[illegible] में [illegible]

युगवीर-समन्तभद्र-ग्रन्थमाला : २

प्रमाण-नय-निक्षेप-प्रकाश

लेखक
सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट-प्रकाशन

प्रकाशक :
मंत्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट,
ट्रस्ट-संस्थापक
आ० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'



प्राप्तिस्थान :
मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट,
चमेली-कुटीर, १/१२८, डुमरावकॉलोनी,
अस्सी, वाराणसी–५



प्रथम संस्करण : ६०० प्रति
पौष कृष्णा ११, वी० नि० सं० २४९७
(भ० पार्श्वनाथ-जयन्ती)
दिसम्बर १९७०
मूल्य : एक रुपया पचास पैसे



मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी–१

प्रकाशकीय

मई १९६९ में वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टसे 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार' नामके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका प्रकाशन हुआ था, जिसे प्रबुद्धवर्गने पर्याप्त आदृत किया है।

प्रसन्नताकी बात है कि आज उसी ट्रस्टसे एक दूसरे महत्त्वके ग्रन्थको प्रकाशित किया जा रहा है। उसका नाम है 'प्रमाण-नय-निक्षेप-प्रकाश'। यद्यपि यह लघुकाय है, किन्तु जिन विशिष्ट विषयोंका इसमें विवेचन किया गया है वे वाङ्मयके प्राणभूत विषय हैं और उनपर जिन्होंने प्रकाश डाला है वे समाजके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्रीमान् प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, प्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी हैं। आपकी मँजी हुई और चिन्तनशील लेखनीसे यह प्रसूत हुआ है।

जैसा कि ग्रन्थ-नामसे विदित है इसमें प्रमाण, नय और निक्षेप इन तीनका संक्षेपमें किन्तु विशद शास्त्रानुमोदित विमर्श किया गया है। प्रमाण भारतीय दर्शनोंमें भी बहुचर्चित है, पर नय और निक्षेप केवल जैन दर्शनके अपने विषय हैं और उनका निरूपण जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें ही प्राप्त है। इनको जाने बिना अनन्तधर्मात्मक वस्तुका ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रमाण वस्तुको अखण्डरूपमें जानता है, खण्डरूपमें नहीं। परन्तु व्यवहारी जन वस्तुका व्यवहार खण्ड-खण्ड (एक-एक धर्म) रूपमें करते है। कौन धर्म किस अपेक्षासे उन्हें विवक्षित है, इसका ज्ञान नय और निक्षेपका अवलम्बन लिये बिना नहीं हो सकता। यथार्थमें वस्तु मूलतः सामान्य-विशेषरूप अथवा द्रव्य-पर्यायरूप है। उसके इन सामान्य और विशेष अथवा द्रव्य और पर्यायरूप अंशोंका सही ज्ञान नय और निक्षेपसे ही होता है। इसी कारण जैन वाङ्मयमें प्रमाणके साथ नय और निक्षेपका भी विस्तृत प्रतिपादन उपलब्ध है।

प्रस्तुत कृतिकी विशेषता यह है कि इसमें प्रायः उन सभी प्रमुख आचार्योंके प्रमाण, नय और निक्षेपसम्बन्धी विचारोंको समन्वित और नये परिवेषमें एकत्र विशदतया प्रस्तुत किया गया है जिन्होंने भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें उनपर विस्तारपूर्वक लिखा है। इसके साथ ही नय-प्रकरणमें द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार नयोंकी दो विभिन्न विचार-धाराओंका विश्लेषण करते हुए निश्चय और व्यवहारकी खींचातानीसे उत्पन्न विभ्रम-को भी जैन वाङ्मयकी मूल दृष्टि—अनेकान्त दृष्टिसे निरस्त किया गया है।

आशा है यह उपयोगी रचना सभी प्रकारके पाठकोंको प्रमाण, नयोंकी मैत्री और निक्षेपव्यवस्थाको समझनेमें सहायक सिद्ध होगी।

इस सुन्दर कृतिको उपस्थित करनेके लिए हम ट्रस्टकी ओरसे श्रद्धेय पण्डितजीका साभार धन्यवाद करते हैं।

वाराणसी —दरबारीलाल कोठिया

१८ दिसम्बर, १९७० मन्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट

लेखकके दो शब्द

तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायका छठा सूत्र है 'प्रमाणनयैरधिगमः।' जो बतलाता है कि प्रमाण और नयसे वस्तुतत्त्वका बोध होता है और तब सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। इन प्रमाण और नयमें भी विशेष रूपसे ज्ञातव्य है नय, क्योंकि ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं, अतः नयदृष्टिके बिना वक्ताके अभिप्रायको यथार्थरूपसे नहीं समझा जा सकता और उसको समझे बिना ठीक-ठीक बोध होना संभव नहीं है।

इसीसे आचार्य देवसेनने नयचक्रमें कहा है—

> जे णयदिट्ठि-विहीणा ताण ण वत्थुसरूव-उवलद्धी।
> वत्थुसरूव-विहीणा सम्माइट्ठी कहं होंति।

जो नयरूपी दृष्टिसे विहीन है वे अन्धे हैं, उन्हें वस्तुके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं हो सकती है। और वस्तुस्वरूपकी उपलब्धिके बिना वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?

अतः जो वस्तुतः सम्यग्दृष्टि होना चाहते हैं उन्हें नयदृष्टिसे संपन्न होना ही चाहिये। किन्तु कुछ समयसे जैन कुलोत्पन्न मोक्षाभिलाषियोंकी भी कुछ ऐसी आस्था बन गयी है कि चूँकि हम जैन हैं अतः हम सम्यग्दृष्टि हैं और हमें कुछ जानने-समझनेकी आवश्यकता नहीं है। इसीसे धर्मके विषयमें विसंवाद बढ़ता जाता है। इस विसंवादको दूर करनेका रास्ता है नयदृष्टिसे सम्पन्न होना। शास्त्रकारोंने कहाँपर, कौन कथन, किस दृष्टिसे किया है यह समझे बिना शास्त्रकारोंके भी अभिप्रायको ठीक रीतिसे नहीं समझा जा सकता। और उसके बिना विसंवाद मिट नहीं सकता। विसंवादोंको मिटानेके लिये ही जैनदर्शनके प्रवर्तकोंने अनेकान्तदृष्टिकी सृष्टि की थी। उसीकी देन है स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंगीवाद। खेद है कि इन अमूल्य

वादोंके होते हुए भी विसंवाद वर्तमान हैं। इसका कारण है इन वादोंका अपरिज्ञान। इसीसे मैंने इस छोटी-सी पुस्तिकामें प्रमाणके साथ नय और निक्षेपको समझानेकी चेष्टा की है। आजकल निश्चय और व्यवहारकी विशेष चर्चा है तथा निश्चय भूतार्थ और व्यवहार अभूतार्थ है, इसको लेकर जहाँ एक पक्ष व्यवहारको मिथ्या मानकर उसका नाम लेते हुए भी कतराता है वहाँ दूसरा पक्ष भूतार्थ और अभूतार्थको समकोटिमे रखना चाहता है। इन्हीं सब विसंवादोंको लक्ष्यमे रखकर शास्त्रदृष्टिसे निश्चय और व्यवहारके साथ उनकी भूतार्थता और अभूतार्थताका भी विश्लेषण किया गया है। आशा है पाठकगण इसे मनोयोगपूर्वक पढने और समझनेका प्रयत्न करेंगे, इससे उन्हें यथार्थ दृष्टिका लाभ होगा।

भगवान पार्श्वनाथ-जयन्ती
वीर नि० सं० २४९१
वाराणसी

कैलाशचन्द्र शास्त्री
(प्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय)

विषय-सूची

प्रमाण-नय-निक्षेप-प्रकाश

नमस्कार तथा प्रतिज्ञा

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।
प्रमाण-नय-निक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥ ५१ ॥

—लघीयस्त्रय

अर्थ—जिनसे भव्य जीवोंको सप्तभंगमय स्याद्वादरूप सात दृष्टियां प्राप्त होती हैं, उन भगवान महावीरको नमस्कार करके आगमके अनुसार प्रमाण, नय और निक्षेपका कथन करूँगा ।

आगममें कहा है—

'प्रमाणनयैरधिगमः—तत्त्वा० सू० १।६।

प्रमाण और नयोंके द्वारा वस्तुस्वरूपका ज्ञान होता है ।

अतः आगे उनका कथन करते हैं—

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥ ५२ ॥

—लघीयस्त्रय

अर्थ—आत्मा आदि पदार्थोंका जो ज्ञान है वही प्रमाण है। उनको जाननेका जो उपाय है वह निक्षेप है। तथा ज्ञाता—जाननेवालेके अभिप्रायका नाम नय है। इन प्रमाण, नय और निक्षेपरूप युक्तियोंसे ही पदार्थका बोध होता है।

प्रमाणका स्वरूप और भेद बतलाते हुए तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे।
आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं। ये ही प्रमाण हैं। प्रमाणके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। आदिके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं और शेष तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

प्रत्यक्ष और परोक्षका लक्षण आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें इस प्रकार कहा है—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥ ५८ ॥

अर्थ—पर (इन्द्रियादि)के द्वारा होनेवाला जो पदार्थोंका ज्ञान है उसे परोक्ष कहा है। और यदि मात्र जीव (आत्मा)के द्वारा ही पदार्थोंका ज्ञान हो तो वह प्रत्यक्ष है। अर्थात् इन्द्रिय आदिकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसे जिनागममें परोक्ष कहा है। उसे परोक्ष कहनेका कारण क्या है, यह आचार्य कुन्दकुन्दने स्वयं स्पष्ट किया है—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥ ५७ ॥

—प्रवचनसार

अर्थ—वे आँख, नाक, कान वगैरह इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं, उन्हें आत्मस्वभावरूप नहीं कहा है, अतः उनके द्वारा होनेवाला ज्ञान आत्माका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।

आशय यह है कि 'प्रत्यक्ष' शब्द 'प्रति और अक्ष' दो शब्दोंके मेलसे बना है। इसका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ होता है—

अक्षं—आत्मानमेव केवलं प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्।

अक्ष शब्दका अर्थ यहाँ आत्मा है। जो ज्ञान इन्द्रियादिकी सहायता के बिना केवल आत्माके प्रति ही नियत होता है वही वास्तवमें प्रत्यक्ष है। इन्द्रियोंका अस्तित्व तो आत्मासे जुदा है उनमें आत्माके स्वभावकी तो गन्ध भी नहीं है, इसीलिए वे परद्रव्य हैं। ऐसी इन्द्रियोंकी सहायतासे होनेवाला ज्ञान आत्माका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।

धवलाके आधारसे ज्ञान-विवेचन

षट्खण्डागमके वर्गणा नामक पाँचवें अधिकारके अन्तर्गत प्रकृति-अनुयोगद्वारमें ज्ञानके पांच भेदोंकी चर्चा है। श्री धवला टीकाके आधारसे उनका विवेचन आगे दिया जाता है।

अभिनिबोधका स्वरूप

मतिज्ञानका प्राचीन आगामिक नाम[1] अभिनिबोध है। अभिमुख और नियमित अर्थके ज्ञानको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। तथा इन्द्रिय और नोइन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य अर्थको अभिमुख कहते हैं। अर्थ, इन्द्रिय प्रकाश और उपयोगके द्वारा ही मनुष्योंको रूपज्ञान होता है। अर्थ, इन्द्रिय और उपयोगके द्वारा ही रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शका ज्ञान होता है। दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थ तथा मनके द्वारा नोइन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है। इस नियमके अनुसार अभिमुख अर्थोंका जो ज्ञान होता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञानके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थके निमित्तसे जो अन्य अर्थोका

१. षट्खं, धवला, पु० १३, पृ० २०९ आदि।

ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। धूमके निमित्तसे उत्पन्न हुआ अग्निका ज्ञान, नदीपूरके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ऊपरी भागमें वृष्टिका ज्ञान, देशान्तर प्राप्तिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ सूर्यकी गतिका ज्ञान और शब्दके निमित्तसे उत्पन्न हुआ शब्दार्थका ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानके निमित्तसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी श्रुत ज्ञान ही है फिर भी जो तत्त्वार्थसूत्रमें[1] श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक कहा है उसमें कोई विरोध नहीं आता; क्योंकि उक्त कथन श्रुतज्ञानकी प्रारम्भिक प्रवृत्तिकी अपेक्षासे है।

कारणमें कार्यके उपचारसे शब्दको भी श्रुत कहते हैं। यद्यपि एकेन्द्रियादि जीव श्रोत्र और मनसे रहित होते हैं फिर भी उनके मनके बिना भी जातिविशेषके कारण श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाती है।

अवधिज्ञान

अवाग् पुद्गलको कहते हैं क्योंकि वह नीचेकी गुरुताको लिये होता है। उसे जो जानता है वह अवधिज्ञान है। अथवा अवधिका अर्थ मर्यादा है। अवधिके साथ विद्यमान ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधिज्ञान मूर्त पदार्थोंको ही जानता[2] है। यह अवधिज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, इसलिये प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान इन्द्रिय आदिकी सहायतासे उत्पन्न होता है उसे जिनागममें परोक्ष कहा गया है।

मनःपर्ययज्ञान

पराये मनमें स्थित अर्थको मन कहते हैं। और मनकी पर्यायोंको मनःपर्यय कहते हैं उन्हें जो जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है। यह ज्ञान अचिन्तित और अर्धचिन्तित अर्थोंको भी जानता है। यह इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होता, अतः अवधिज्ञानके समान प्रत्यक्ष है। यद्यपि अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञानका विषय अल्प है क्योंकि मनःपर्यय अवधिज्ञानके विषय-

---

१. 'श्रुतं मतिपूर्वं...।'–त० सू० १।२०।

२. 'रूपिष्ववधेः'—त. सू. १।२७।

भूत पुद्गलद्रव्यके अनन्तवें भागको जानता है। किन्तु मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट संयमी साधुके ही होता है, अतः अवधिज्ञानकी अपेक्षा महान् है।

केवलज्ञान

जो ज्ञान आत्मासे ही उत्पन्न होता है, त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य और पर्यायोंको जानता है, इन्द्रियादिकी सहायता, क्रम और व्यवधानसे रहित है जो समस्त प्रमेयोंके लिये भी अथाह है, प्रत्यक्ष है और विनाश रहित है वह केवलज्ञान है।

शंका[1]—क्या जीव पाँचज्ञानस्वभाववाला है या केवलज्ञानस्वभाववाला है? पाँचज्ञानस्वभाववाला तो हो नहीं सकता; क्योंकि एक जीवमें एक साथ पाँचों ज्ञानोंका अस्तित्व माननेपर सहानवस्थान नामक विरोध आता है। वह केवलज्ञानस्वभाववाला भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर शेष ज्ञानोंका अभाव प्राप्त होता है?

समाधान—जीव केवलज्ञानस्वभाव ही है फिर भी उसके शेष ज्ञानोंका अभाव नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञानावरणकर्मके द्वारा आवृत हुए भी केवलज्ञानके कुछ अवयव उद्घाटित रहते हैं। वे ही ज्ञानकिरण प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमें जो प्रत्यक्ष भाग है वह दो प्रकारका है—संयमप्रत्यय और सम्यक्त्वसंयम तथा भवप्रत्यय। उनमें संयमप्रत्यय तो मनःपर्ययज्ञान है और दूसरा अवधिज्ञान है। जो परोक्ष भाग है वह भी दो प्रकारका है—इन्द्रियनिबन्धन और इन्द्रियजन्यज्ञान निबन्धन। इन्द्रियजन्यभाग मतिज्ञान है और दूसरा श्रुतज्ञान है।

शंका—केवलज्ञानको ढाँकनेवाला केवलज्ञानावरणकर्म क्या सर्वघाति है या देशघाति है? सर्वघाती तो हो नहीं सकता क्योंकि केवलज्ञानका सर्वथा अभाव माननेपर जीवके अभावका प्रसंग आता है। देशघाती भी नहीं हो सकता, क्योंकि आगममें उसे सर्वघाती कहा है।

---

१. षट्खं० धवला, भाग १३, पृ० २१३ आदि।

समाधान—केवलज्ञानावरणकर्म सर्वघाती ही है, क्योंकि वह केवल-ज्ञानको पूरा ढाकता है। फिर भी जीवका अभाव नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञानके आवृत होनेपर भी चार ज्ञानोंका अस्तित्व पाया जाता है।

शंका—जीवमें एक केवलज्ञान है उसे जब पूरा आवृत कहते हो तो फिर चार ज्ञानोंका सद्भाव कैसे हो सकता है?

समाधान—जैसे राखसे ढकी हुई आगसे वाष्पकी उत्पत्ति होती है वैसे ही सर्वघाती आवरणके द्वारा केवलज्ञानके आवृत होनेपर भी उससे चार ज्ञानोंकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता।

शंका—वे चारों ज्ञान केवलज्ञानके अवयव नहीं हो सकते, क्योंकि वे विकल हैं, परोक्ष हैं, क्षयसहित हैं और घटते-बढ़ते हैं। इसलिये उन्हें सकलप्रत्यक्ष तथा क्षय और हानि-वृद्धिसे रहित केवलज्ञानके अवयव माननेमें विरोध आता है?

समाधान—ज्ञानसामान्यको देखते हुए चारों ज्ञानोंको केवलज्ञान-का अवयव माननेमें कोई विरोध नहीं आता।

इस प्रकार प्रमाणके पाँच भेदोंका स्वरूप बतलाकर आगे उनके भेद-प्रभेदोंका कथन करते हैं।

मतिज्ञानके भेद

मतिज्ञानके चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयीका सम्पात होनेके अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है—स्पर्श, रस आदि अर्थ विषय हैं। छहों इन्द्रियाँ विषयी हैं। ज्ञान उत्पन्न होनेकी पूर्वावस्था विषय और विषयीका सम्पात है। उसे ही दर्शन कहते हैं। उसके बाद जो वस्तुका प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है। जैसे चक्षुके द्वारा 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। जहाँ घटादिके बिना, रूप दिशा आकार आदिसे विशिष्ट वस्तु मात्र अनध्यवसायरूपसे जानी जाती है वहाँ भी वह ज्ञान अवग्रह ही है क्योंकि अवग्रहके बिना ईहादि ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थमें विशेष जाननेकी इच्छा होना ईहा है। यह अनध्यवसायरूप अवग्रहसे उत्पन्न हुए संशयके पीछे होती है क्योंकि 'यह शुक्ल रूप बलाका है या पताका', इस प्रकारका संशय होनेपर ईहाकी उत्पत्ति होती है। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि अनध्यवसायरूप अवग्रहके पीछे ही ईहा होती है। क्योंकि अध्यवसायरूप अवग्रहके द्वारा 'यह पुरुष है' इस प्रकार ग्रहण किये गये पदार्थमें भी 'यह दक्षिणका है या उत्तरका है' इस प्रकारका संशय होनेपर भी ईहा ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार संशयके बाद और अवायके पहले बीचकी अवस्थामें हेतुके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए विचाररूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। किन्तु ईहा अनुमानज्ञान नहीं है क्योंकि ईहाज्ञान अपने विषयसे अभिन्नरूप लिंगसे उत्पन्न होता है और अनुमानज्ञान अपने विषयसे भिन्न रूप लिंगसे उत्पन्न होता है।

स्वगत लिंगका ठीक तरहसे ज्ञान हो जानेके कारण संशयके दूर हो जानेसे उत्पन्न हुआ निर्णयात्मक ज्ञान अवाय है। जैसे, ऊपर उड़ना और पंखोंके हिलाने-डुलानेसे यह जान लेना कि यह बकपंक्ति ही है, पताका नहीं है। या वचन सुनकर यह जान लेना कि यह पुरुष दाक्षिणात्य ही है उत्तरका नहीं है, यह अवायज्ञान है।

जाने हुए पदार्थके कालान्तरमें विस्मरण न होनेमें कारण भूत ज्ञानको धारणा कहते हैं। जैसे सन्ध्याको पुनः उसी बकपंक्तिको लौटता देखकर यह ज्ञान होना कि यही वह बकपंक्ति है जिसे प्रातःकाल देखा था। गृहीतग्राही होनेसे ईहादिक ज्ञानको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूरी तरहसे अगृहीत अर्थको ग्रहण करनेवाला कोई भी ज्ञान नहीं है। तथा गृहीत अर्थको ग्रहण करना अप्रमाणताका कारण भी नहीं है, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप ज्ञानोंमें ही अप्रमाणता देखी जाती है।

अवग्रहके दो भेद हैं—व्यंजनाग्रह और अर्थावग्रह। अप्राप्त अर्थका ग्रहण अर्थावग्रह है और प्राप्त अर्थका ग्रहण व्यंजनावग्रह है। स्पष्ट ग्रहणका

नाम अर्थावग्रह है ऐसा सर्वार्थसिद्धि[1] और राजवार्तिकमें[2] कहा है किन्तु वीर-सेन स्वामी इसे ठीक नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि स्पष्ट ग्रहणका नाम अर्थावग्रह है तो अस्पष्ट ग्रहणको व्यंजनावग्रह कहना होगा। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि चक्षुसे भी अस्पष्ट ग्रहण होता है अतः उसे भी व्यंजनावग्रह होनेका प्रसंग आता है। परन्तु चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता, ऐसा तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है।

शंका—मन और चक्षुके सिवा शेष चार इन्द्रियोंसे अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं होता?

समाधान—नहीं, क्योंकि यव वृक्षकी जड़े जमीनमें गढे धनकी ओर जाती हुई पाई जाती है, तूवड़ीकी लता अप्राप्त वृक्ष आदिको ग्रहण करती हुई देखी जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि शेष चार इन्द्रियाँ भी अप्राप्त अर्थको ग्रहण कर सकती हैं।

ये ज्ञान बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनके प्रतिपक्षभूत एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त अध्रुव इन बारह प्रकारके पदार्थोंके होते हैं।

बहुशब्द संख्यावाची है, जैसे एक, दो, बहुत। और वैपुल्यवाची भी है, जैसे बहुत भात, बहुत दाल। उन दोनोंका ही यहाँ ग्रहण इष्ट है। उनका ग्रहण बहुज्ञान है। एक अर्थको विषय करनेवाला ज्ञान एकज्ञान है। विध-शब्द प्रकारवाची है, बहुविध अर्थात् बहुप्रकार। जातिगत बहुसंख्या विशिष्ट पदार्थोंका ज्ञान बहुविधज्ञान है। एकजातिविषयक ज्ञान एकविधज्ञान है। एकविधज्ञान और एकज्ञानमें जाति और व्यक्तिका भेद है। शीघ्र अर्थ-को ग्रहण करनेवाला ज्ञान क्षिप्रज्ञान है। जैसे नये सकोरेपर जलकी बूँदे डालनेसे वह धीरे-धीरे गीला होता है उसी प्रकार पदार्थको धीरे-धीरे जाननेवाला ज्ञान अक्षिप्रज्ञान है। वस्तुके एक देशको देखकर पूरी वस्तुको

१-२. सूत्र १।१८।२ षट्खं० धवला, पु० १३, पृ० २२०।

ज्ञान लेना या किसी पूरी वस्तुको देखकर उसके समान अन्य वस्तुका ज्ञान होना अनिसृत ज्ञान है। जैसे चक्षुके द्वारा सूंड़को देखकर जलमें डूबे हाथी-को जानना या गवयको देखकर उसके समान गौका बोध होना कि गवय गायके समान होता है। इसका प्रतिपक्षी निसृतज्ञान है।

प्रतिनियत गुणविशिष्ट वस्तुके ग्रहणके समय, जो गुण उस इन्द्रियका विषय नहीं है ऐसे गुणसे युक्त उस वस्तुका ग्रहण होना अनुक्त ज्ञान है। जैसे चक्षुके द्वारा नमक, शक्कर और खांडके ग्रहणके समय ही उनके रसका ज्ञान हो जाता है। आगको देखते ही उसके स्पर्शका ज्ञान हो जाता है। अनुक्तका प्रतिपक्षी उक्त ज्ञान है। स्थायी स्तम्भ आदिका ज्ञान ध्रुव ज्ञान है। बिजली और दीपककी लौ आदि उत्पादविनाशयुक्त वस्तुका ज्ञान अध्रुव ज्ञान है।

इस प्रकार मतिज्ञानके मूल भेद चार है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इन्हें पाँच इन्द्रिय और मनसे गुणित करनेपर २४ भेद होते हैं। इनमें व्यंजनावग्रहके ४ भेद मिलानेपर २८ भेद होते हैं। बहु आदि १२ विकल्पोंसे गुणा करनेपर ३३६ भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान

अवग्रहसे लेकर धारणा पर्यन्त मतिज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थके निमित्तसे जो अन्य अर्थका ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। वह दो प्रकारका है—शब्दलिंगज और अशब्दलिंगज। धूमको देखकर अग्निका ज्ञान होना अशब्दलिंगज श्रुतज्ञान है उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान भी कहते है। दूसरा शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है। यहाँ उसीका कथन करते हैं—

जितने अक्षर हैं और जितने अक्षरसंयोग है उतने ही श्रुतज्ञान हैं। क्योंकि एक एक अक्षरसे एक एक श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है। तेतीस व्यंजन है। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ उनके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत-के भेदसे सत्ताईस स्वर हैं। प्राकृतमें ए, ऐ, ओ, औका भी ह्रस्व भेद माना जाता है। चार अयोगवाह हैं—अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मा-नीय। इस प्रकार सब अक्षर चौसठ होते है। कहा भी है—

तेत्तोस वंजणाइं सत्तावीसं हवंति सव्वसरा।
चत्तारि अजोगवहा एवं चउसट्ठि वण्णाओ ॥

इन चौंसठ अक्षरों तथा इनके संयोगसे जितने संयुक्ताक्षर बनते हैं उतने ही श्रुतज्ञानके विकल्प होते हैं।

चौंसठ अक्षरोंकी संख्याका विरलन करके और उनमेंसे प्रत्येकपर दो का अंक स्थापित करके सबका परस्परमें गुणा करके जो राशि निष्पन्न हो उसमेंसे एक कम करनेपर समस्त अक्षरोंकी उत्पत्ति होती है। उस राशिका प्रमाण इस प्रकार है—

१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५

इसका विशेष कथन षट्खण्डागम (धवलाटीका) भाग १३ से जानना चाहिए।

श्रुतज्ञानके भेद

श्रुतज्ञानके बीस भेद हैं—पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोग अनुयोगसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व, पूर्वसमास।

सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तक जीवके जो जघन्य ज्ञान होता है उसका नाम लब्ध्यक्षर है, क्योंकि यह ज्ञान एक रूपसे अवस्थित रहता है, इसका नाश नहीं होता। अथवा केवलज्ञान अक्षर है क्योंकि उसमें वृद्धि-हानि नहीं होती। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तकका ज्ञान भी वही है इसलिये भी उसे अक्षर कहते हैं। यद्यपि वह केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग है। यह ज्ञान निरावरण है क्योंकि अक्षरका अनन्तवां भाग नित्य उद्घाटित रहता है ऐसा आगमवचन है। यदि यह ज्ञान भी आवृत हो जाय तो जीवका ही अभाव हो जाय, क्योंकि ज्ञान ही तो जीवका लक्षण है। इस लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञानमें समस्त जीवराशिकी संख्यासे भाग देनेपर सब जीवराशिसे अनन्तगुणे ज्ञानाविभागप्रतिच्छेद (सूक्ष्म ज्ञानांश) आते

हैं। आशय यह है कि लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान अक्षर केवलज्ञानका अनन्तवां भाग है, इसलिये इस लब्ध्यक्षर ज्ञानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा सब जीवराशिसे अनन्तगुणा लब्ध आता हैं। उसे लब्ध्यक्षर ज्ञानमें मिलानेपर पर्यायश्रुत ज्ञानका प्रमाण उत्पन्न होता है। पुनः पर्यायज्ञानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर जो भाग लब्ध आवे उसे उसी पर्यायज्ञानमें मिलानेपर पर्यायसमासज्ञान उत्पन्न होता है। इसपर अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिके क्रमसे असख्यात लोकमात्र पर्याय-समासज्ञान होते हैं। किन्तु पर्यायज्ञान एक ही प्रकारका होता है। आशय यह है कि ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदोंके प्रक्षेपका नाम पर्याय है। उनका समास जिन ज्ञानस्थानोंमें होता है उन ज्ञानस्थानोंकी पर्यायसमास संज्ञा है। परन्तु जहाँ एक ही प्रक्षेप होता है उस ज्ञानकी पर्याय संज्ञा है क्योंकि एक पर्यायमे उनका समास नहीं बन सकता।

अक्षरश्रुतज्ञान

अन्तिम पर्यायसमास श्रुतज्ञानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे उसीमें मिलानेपर अक्षरज्ञान उत्पन्न होता है। यह अक्षर-ज्ञान सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकके अनन्तानन्त लब्ध्यक्षरोंके बराबर होता है।

अक्षरके तीन भेद हैं—लब्ध्यक्षर, निर्वृत्यक्षर और संस्थानाक्षर। सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकसे लेकर श्रुतकेवली पर्यन्त जीवोंके जितने क्षयो-पशम होते हैं उन सबकी लब्ध्यक्षर संज्ञा है। जीवोंके मुखसे निकले हुए शब्दकी निर्वृत्यक्षर संज्ञा है। उस निर्वृत्यक्षरके दो भेद हैं—व्यक्त और अव्यक्त। उनमेंसे व्यक्त निर्वृत्यक्षर संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकोंके होता है और अव्यक्त निर्वृत्यक्षर, द्वीन्द्रियसे लेकर संज्ञीपञ्चेन्द्रियपर्याप्तक जीवोंके होता है। सस्थानाक्षरका दूसरा नाम स्थापना अक्षर भी है। 'यह वह अक्षर है' इस प्रकार जो बुद्धिमें स्थापना होती है या जो लिखा जाता है वह स्थापना-क्षर है। यहाँ इन तीन अक्षरोंमेंसे लब्ध्यक्षरसे प्रयोजन है, शेष दो अक्षर तो जड़ रूप हैं अतः उनसे यहाँ प्रयोजन नहीं है।

जघन्य लब्ध्यक्षर सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकके होता है, और उत्कृष्ट चौदह पूर्वके धारी श्रुतकेवलीके होता है। जघन्य निर्वृत्यक्षर दोइन्द्रिय पर्याप्तक आदिके होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारीके होता है। इसी प्रकार संस्थानाक्षर भी जानना चाहिये।

अक्षरसमास और पदश्रुतज्ञान

एक अक्षरसे जो जघन्य ज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षर श्रुतज्ञान है। इस अक्षरके ऊपर दूसरे अक्षरकी वृद्धि होने पर अक्षरसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते संख्यात अक्षरोंकी वृद्धि होने तक अक्षरसमास श्रुतज्ञान होता है। पुनः संख्यात अक्षरोंको मिलाकर एक पद नामका श्रुतज्ञान होता है।

पदके तीन प्रकार हैं—अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद। जितने अक्षरोंके द्वारा अर्थका ज्ञान होता है वह अर्थपद है। वह अनियत है क्योंकि अनियत अक्षरोंके द्वारा अर्थका ज्ञान होता देखा जाता है। आठ अक्षरोंका प्रमाणपद होता है यह नियत है। और सोलहसौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी अक्षरोंका मध्यमपद होता है। यह भी नियत है। इनमेंसे यहाँ मध्यमपदसे प्रयोजन है क्योंकि मध्यमपदके द्वारा अंगों और पूर्वोका पदविभाग कहा गया है। श्रुतज्ञानके एकसौ बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार पांच पद है। इतने पदोंके आश्रयसे सकल श्रुतज्ञान होता है।

पूर्वोक्त श्रुतज्ञानके समस्त अक्षरोंमें मध्यमपदके अक्षरोंके भाग देने पर सकल श्रुतज्ञानके उक्त पदोंका प्रमाण आता है।

संघातश्रुत

इस मध्यमपद श्रुतज्ञानके उपर एक अक्षरके बढ़ने पर पदसमास नामका श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिसे बढ़ता हुआ पदसमास श्रुतज्ञान एक अक्षरसे न्यून संघात श्रुतज्ञान पर्यन्त जाता है।

उस पर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर संघात श्रुतज्ञान होता है। इस तरह संख्यात पदोंको मिलाकर एक संघात श्रुतज्ञान होता है यह संघात श्रुतज्ञान मार्गणाज्ञानका अवयव है। जैसे गति मार्गणामें नरकगति विषयक ज्ञान।

प्रतिपत्ति

संघात श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर संघातसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिके कमसे बढ़ते हुए एक अक्षरसे न्यून प्रतिपत्तिश्रुतज्ञान पर्यन्त संघातसमास श्रुतज्ञान होता है। पुनः इस पर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर प्रतिपत्तिश्रुतज्ञान होता है।

अनुयोग

प्रतिपत्तिश्रुतज्ञानके उपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे बढ़ता हुआ एक अक्षरसे न्यून अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान पर्यन्त प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञान होता हैं। उसमें एक अक्षरकी वृद्धि होने पर अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान होता हैं।

शेष श्रुतज्ञान

पुनः अनुयोगद्वार श्रुतज्ञानके उपर एक अक्षरकी बृद्धि होने पर अनुयोगद्वारसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। पुनः उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। पुनः इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर प्राभृत-प्राभृतसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक क्षक्षरकी उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून प्राभृत-श्रुतज्ञानके प्राप्त होनें तक प्राभृत-प्राभृतसमास श्रुतज्ञान होता है। पुनः इसके उपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर प्राभृतश्रुतज्ञान होता है। इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर प्राभृतसमास श्रुतज्ञान होता हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते-होते एक अक्षरसे न्यून वस्तु श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्राभृतसमास श्रुतज्ञान होता है। पुनः उसमें एक अक्षरकी वृद्धि होने पर वस्तुश्रुतज्ञान होता है।

इसके उपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर वस्तुसमासश्रुतज्ञान होता हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून पूर्व श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक वस्तुसमासश्रुतज्ञान होता है। पुनः उसके उपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर पूर्वश्रुतज्ञान होता है। पूर्व श्रुतज्ञानके उत्पादपूर्व आदि चौदह अधिकार हैं। उनकी अलग-अलग पूर्वश्रुतज्ञान संज्ञा है। प्रथम उत्पादपूर्व श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होने पर पूर्वसमासश्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यरूप सकल श्रुतज्ञानके सब अक्षरों की वृद्धि होने तक पूर्वसमास श्रुतज्ञान होता है।

ऊपर शब्दजन्य श्रुतज्ञानके भेदोंका कथन किया है। श्रुत शास्त्रको भी कहते हैं। श्रुतके दो प्रकार हैं—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। भावश्रुत ज्ञानरूप होता है और द्रव्यश्रुत ग्रन्थरूप या वचनरूप होता है। यद्यपि ये दोनों ही श्रुतसामान्यकी अपेक्षा समान हैं तथापि द्रव्यश्रुतको जो श्रुतसंज्ञा प्राप्त है वह उपचारसे प्राप्त है। वास्तवमें तो भावश्रुत ही श्रुतज्ञान है क्योंकि वही ज्ञानरूप होनेसे आत्माका धर्म है, द्रव्यश्रुत आत्माका धर्म नहीं है, वह तो वचनात्मक है। श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे उसे भी श्रुत कहा जाता है। वह श्रुत द्वादशांगरूप है। उसकी उत्पत्ति सकल संयुक्त अक्षरोंसे होती है। उन अक्षरोंका प्रमाण भी ऊपर बतलाया है। द्वादशांगरूप सकलश्रुतज्ञान अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यके भेदसे दो प्रकारका है। अंगप्रविष्टके अन्तर्गत ही चौदह पूर्व हैं। प्रत्येक पूर्वके अन्तर्गत अनेक वस्तु अधिकार होते हैं। पूर्व श्रुतज्ञानके अधिकारोंकी वस्तुसंज्ञा है। और वस्तुश्रुतज्ञानमें बीस प्राभृत होते हैं तथा २४ प्राभृतप्राभृतोंका एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। एक प्राभृत श्रुतज्ञानमें संख्यात अनुयोगद्वार होते हैं। अर्थात् प्राभृतके जितने अधिकार होते हैं उनमेंसे एक एक अधिकारकी प्राभृतप्राभृत संज्ञा है और प्राभृतप्राभृतमें जितने अधिकार होते हैं उनमेंसे एक एक अधिकारकी अनुयोगद्वार संज्ञा है। अनुयोगद्वारके जितने अधिकार होते हैं उनमेंसे एक अधि-

कारकी प्रतिपत्तिसंज्ञा है और एक अक्षरसे न्यून सब अधिकारोंकी प्रतिपत्तिसमाससंज्ञा है। प्रतिपत्तिके जितने अधिकार होते है उनसेमें एक एक अधिकारकी संघातसंज्ञा है और एक अक्षरसे न्यून सब अधिकारोंकी संघातसमाससंज्ञा है।

अवधिज्ञान

अवधिज्ञानके दो भेद हैं—भवप्रत्यय अवधिज्ञान और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान। भव उत्पत्ति या प्रादुर्भाव या जन्मको कहते हैं। जिस अवधिज्ञानका कारण भव है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। और सम्यक्त्वसे युक्त अणुव्रत और महाव्रतरूप गुण जिस अवधिज्ञानका कारण है वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है। किन्तु सभी सम्यग्दृष्टियों, संयतासंयतोंको अवधिज्ञान नहीं होता; क्योंकि सम्यक्त्व, सयमासयम, और संयमरूप परिणाम तो असंख्यात लोकप्रमाण है किन्तु उनमेसे अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशममे निमित्तभूत परिणाम बहुत थोड़े है वे सबके संभव नहीं है।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियोंके होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तिर्यञ्चों और मनुष्योंके होता है क्योकि तिर्यञ्चों और मनुष्योके ही अणुव्रत और महाव्रत होते है।

अवधिज्ञानके ये दो भेद उत्पत्तिनिमित्तकी अपेक्षासे है। विषयकी अपेक्षासे उसके तीन भेद है—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। देशावधि और परमावधिके जघन्य और उत्कृष्ट तथा मध्यम तीन तीन भेद है। उत्कृष्ट देशावधि संयमी मनुष्योंके ही होता है तथा परमावधि और सर्वावधि उसी भवसे मोक्षगामी सयमी मनुष्योंके ही होते है। ये अवधिज्ञान हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र, अनेकक्षेत्रके भेदसे भी अनेक प्रकारके होते है। जो अवधिज्ञान कृष्णपक्षके चन्द्रके समान घटता ही जाता है उसे हीयमान कहते हैं। इसका अन्तर्भाव देशावधिमे होता है क्योंकि परमावधि और सर्वावधिमे हानि नही होती। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान जब तक अपने उत्कृष्ट विकल्पको प्राप्त होकर अगले

समयमें केवलज्ञानको उत्पन्नकर विनष्ट नहीं हो जाता तब तक बढ़ता ही रहता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है। इसका देशावधि, परमावधि और सर्वावधिमें अन्तर्भाव होता है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर वृद्धि-हानिके बिना सूर्यमण्डलकी तरह केवल ज्ञान उत्पन्न होनेतक अवस्थित रहता है वह अवस्थित अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर कभी बढ़ता है, कभी घटता है और कभी अवस्थित रहता है वह अनवस्थित अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीवके साथ जाता है वह अनुगामी अवधिज्ञान है। वह तीन प्रकारका है—क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी। जो अवधिज्ञान एक क्षेत्रमें उत्पन्न होकर स्वतः या परप्रयोगसे जीवके स्वक्षेत्र या परक्षेत्रमें विहार करनेपर नष्ट नहीं होता वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर उस जीवके साथ अन्य भवमें जाता है वह भवानुगामी अवधिज्ञान है। जो भरत, ऐरावत और विदेह आदि क्षेत्रोंमें तथा देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च भवमें भी साथ जाता है वह क्षेत्रभवानुगामी अवधिज्ञान है। अननुगामी अवधिज्ञान भी तीन प्रकार है—क्षेत्रअननुगामी, भवअननुगामी और क्षेत्रभवअननुगामी। जो क्षेत्रान्तरमें साथ नहीं जाता, भवान्तरमें ही साथ जाता है वह क्षेत्र अननुगामी अवधिज्ञान है। जो भवान्तरमें साथ नहीं जाता, क्षेत्रान्तरमें ही साथ जाता है वह भवअननुगामी अवधिज्ञान है। जो क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनोंमें ही साथ नहीं जाता, किन्तु एक ही क्षेत्र और भवमें रहता है वह क्षेत्र-भवअनुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल विनाशको प्राप्त होता है वह सप्रतिपाती अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर ही विनष्ट होता है अन्यथा विनष्ट नहीं होता वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है। देशावधिज्ञान तो वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनुगामी, अनवस्थित, अननुगामी, अप्रतिपाती, प्रतिपाती आठों प्रकारका होता है। परमावधिज्ञान हीयमान और प्रतिपाती नहीं होता। सर्वावधिज्ञान केवल अवस्थित, अनुगामी और अप्रतिपाती होता है।

इस अवधिज्ञानका उपयोग दो प्रकारसे होता है—एकक्षेत्र और अनेक-

क्षेत्र। जो अवधिज्ञान जीव-शरीरमें प्रकट हुए श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, आदि किसी एकचिन्हविशेषसे होता है वह एकक्षेत्र है और जो अवधिज्ञान शरीरके सब अवयवोंसे होता है वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान है। तीर्थंकर, देवों और नारकियोंके अनेकक्षेत्र ही अवधिज्ञान होता है क्योंकि ये शरीर-के सब अवयवोंके द्वारा अपने विषयभूत अर्थको ग्रहण करते हैं। शेष जीवशरीरके एकदेशसे ही जानते है, ऐसा भी नियम नहीं हैं, क्योंकि सर्वावधिज्ञानी और परमावधिज्ञानी अपने शरीरके सब अवयवोंसे अपने विषयभूत अर्थको ग्रहण करते है।

इस अवधिज्ञानके विषयके सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिये षट्खण्डा-गमकी धवला टीका पु० १३, पृ० ३०१–३२८ तथा तत्त्वार्थवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र १।२२ की टीका) देखना चाहिये।

मन:पर्ययज्ञान

परकीय मनोगत अर्थको मन कहते है क्योंकि वह अर्थ मनमें रहता है। पर्ययमें 'परि' शब्दका अर्थ सब ओर और 'अय' शब्दका अर्थ विशेष है। मनका पर्यय मन:पर्यय और मन:पर्ययका ज्ञान मन पर्ययज्ञान है। उसके दो भेद हैं—ऋजुमतिमन:पर्यय और विपुलमतिमन:पर्यय। यतः ऋजुमति-मन:पर्यय ज्ञान ऋजुमनोगत अर्थको विषय करता है, ऋजुवचनगत अर्थ-को विषय करता है और ऋजुकायगत अर्थको विषय करता है अतः वह तीन प्रकारका है। जो अर्थ जिस प्रकारसे स्थित है उसका उस प्रकारसे चिन्तवन करनेवाला मन ऋजु है और उससे विपरीत चिन्तन करनेवाला मन अनृजु है। जो अर्थ जिस प्रकारसे स्थित है उसे उस प्रकारसे ज्ञापन करानेवाला वचन ऋजु है और उससे विपरीत वचन अनृजु है। जो अर्थ जिस प्रकारसे स्थित है उसको उसी प्रकारसे अभिनय द्वारा दिखलानेवाला काय ऋजु है और उससे विपरीत काय अनृजु है। जो ऋजु अर्थात् सरल होकर विचारे गये और सरल रूपसे कहे गये मनोगत अर्थको जानता है वह ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञान है। यह अचिन्तित, अर्धचिन्तित और विप-

रीतरूपसे चिन्तित अर्थको नहीं जानता। इसी तरह यह नहीं बोले गये आधे बोले गये या विपरीत रूपसे बोले गये अर्थको नहीं जानता। शायद कहा जाये कि ऋजुवचनगत मन:पर्ययज्ञानको ऋजुमतिमन:पर्यय नाम देना कैसे उचित है किन्तु ऋजुमनके बिना ऋजु वचनका प्रयोग संभव नहीं है। इसी तरह जो ऋजु भावसे विचारकर एवं ऋजु रूपसे अभिनय करके दिखाये गये अर्थको जानता है वह भी ऋजुमतिमन:पर्यय ज्ञान है क्योंकि ऋजुमतिके बिना कायकी क्रिया भी ऋजु नहीं होती।

यद्यपि मन:पर्ययज्ञान इन्द्रिय, मन आदिकी सहायताके बिना उत्पन्न होता है किन्तु ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञान दूसरोंके मन, वचन और कायके व्यापारकी अपेक्षाके बिना उत्पन्न नहीं होता, किन्तु विपुलमति मन.पर्यय-ज्ञान उनकी अपेक्षाके बिना भी उत्पन्न होता है। इसका कारण है मन: पर्ययज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी विचित्रता।

[1]ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञान मतिज्ञानके द्वारा दूसरोंके मानसको ग्रहण करके ही मनमें स्थित अर्थोंको जानता है। जिनका मन संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित होता है उन व्यक्त मन वाले अन्य जीवोंसे तथा अपनेसे सम्बद्ध अन्य अर्थोंको ऋजुमतिमन:पर्यय जानता है, अव्यक्त मनवाले जीवोंसे सम्बद्ध अन्य अर्थको नहीं जानता; क्योंकि इस प्रकारके अर्थको जाननेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है। कालकी अपेक्षा जघन्यसे वह दो-तीन भवोंको जानता है, उत्कर्षसे सात-आठ भवोंको जानता है। वर्तमान भवके बिना दो और सात भव लेना चाहिये और उसको सम्मिलित करने-पर तीन और आठ भव लेना चाहिये। क्षेत्रकी अपेक्षा वह जघन्यसे गव्यूति-पृथक्त्वप्रमाण क्षेत्रको और उत्कर्षसे योजनपृथक्त्वके भीतरकी बात जानता है, बाहरकी नहीं। दो हजार धनुषकी एक गव्यूति होती है उसे आठसे गुणा करनेपर गव्यूतिपृथकत्व होता है। उसके घनप्रमाणक्षेत्रमें स्थित जीवके मनमें स्थित अर्थको ऋजुमतिमन:पर्यय जघन्यसे जानता है और आठ हजार धनुषोंका एक योजन होता है उसे आठसे गुणा करनेपर

योजनपृथक्त्व होता है, उसका घन ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञानका उत्कृष्ट क्षेत्र होता है।

[1]विपुलमतिमन:पर्ययज्ञान छह प्रकारका है—ऋजुमनोगत और अनृजुमनोगतको जानता है, ऋजुवचनगत और अनृजु वचनगतको जानता है, ऋजुकायगत और अनृजुकायगतको जानता है। यथार्थ मन, वचन और कायका व्यापार ऋजु कहलाता है तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-रूप मन, वचन, कायका व्यापार अनृजु कहलाता है। अर्धचिन्तन या अचिं-तनका नाम अनध्यवसाय है। विचार करके जो भूल गये हैं उसे भी यह ज्ञान जानता है। जिसका भविष्यमें चिन्तवन करेंगे उसे भी जानता है क्योंकि अतीत और अनागत पर्याएँ भी अपने स्वरूपसे द्रव्यमे रहती हैं।

तात्पर्य यह है कि ऋजु या अनृजु रूपसे जो चिन्तित या अर्ध चिन्तित है, वर्तमानमे जिसका विचार किया जा रहा है या अर्ध विचार किया जा रहा है तथा भविष्यमे जिसका विचार किया जायगा या आधा विचार किया जायगा उस सब अर्थको विपुलमति मन:पर्ययज्ञान जानता है कालकी अपेक्षा जघन्यसे सात-आठ भवोंको और उत्कर्षसे असंख्यात भवों-को जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यसे योजन पृथकत्व प्रमाण क्षेत्रको और उत्कर्षसे मानुषोत्तर पर्वतके भीतर ही जानता है, मानुषोत्तर पर्वत यहाँ उपलक्षणीभूत है। इससे यहाँ पैंतालीस लाख योजन क्षेत्रके भीतर स्थित जीवोंके चिन्ताके विषयभूत त्रिकालगोचर पदार्थको वह जानता है। ऐसा अभिप्राय लेना चाहिये। ऐसा होनेसे मानुषोत्तर पर्वतके बाहर भी अपने विषयभूत क्षेत्रके भीतर स्थित होकर विचार करनेवाले देवों और तिर्यञ्चोंकी चिन्ताके विषयभूत अर्थको भी विपुलमतिमन:पर्ययज्ञानी जानता है, यह सिद्ध होता है।

केवलज्ञान

केवलज्ञान सकल, सम्पूर्ण और असपत्न है। अर्थात् वह समस्त द्रव्य

---

१. षट्खं. (धवला) पु. १३, पृ० २३६ आदि। २. वही, पृ० २४० आदि। तत्त्वार्थवार्तिक सूत्र १।२३।

गुण और पर्यायोंको जानता है। अनन्तगुणोंसे परिपूर्ण है। उसके प्रतिपक्षी आवरणोंका नाश हो जाता है अतः वह एकाकी है। सब लोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानता है।

षट्खण्डागमके वर्गणाखण्ड (५-५-८२) में केवलज्ञानके विषयका कथन इस प्रकार किया है—

'स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सबलोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपद् जानते हैं देखते हैं।'

इस सूत्रमें आगत शब्दोंकी व्याख्या धवला टीकामें इस प्रकार की है– सौधर्मादिक देव और भवनवासी असुरक हलाते है। यहाँ 'देवासुर' शब्द देशामर्षक है इसलिये इससे ज्योतिषी, व्यन्तर और तिर्यञ्चोंका भी ग्रहण करना चाहिये। देवलोक, असुरलोक सहित मनुष्यलोककी आगतिको केवलज्ञानी जानते हैं। अन्य गतिसे इच्छित गतिमें आना आगति है। इच्छित गतिसे अन्य गतिमे जाना गति है। सौधर्मादि देवोंका अपनी सम्पदासे वियुक्त होना चयन है। विवक्षित गतिसे अन्य गतिमें उत्पन्न होना उपपाद है। केवलज्ञानी जीवोंके विग्रहके साथ तथा विना विग्रहके आगमन, गमन, चयन और उपपादको जानते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। तथा पुद्गलोंके आगमन, गमन, चयन और उपपादको जानते हैं। पुद्गलोंमें विवक्षित पर्यायका नाश होना चयन है। अन्य पर्यायरूपसे परिणमना उपपाद है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल और आकाशके चयन और उपपादको जानते हैं। इन द्रव्योंमें गमनागमन होता नहीं है। जिस में जीवादिक पदार्थ लोके जाते है उसे लोक कहते हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ 'लोक' शब्दसे आकाश लिया गया है। तथा आधेयमें आधारका उपचार करनेसे लोकशब्दसे धर्मादिकका भी गृहण होता है।

बंधनेका नाम बंध है। अथवा जिसके द्वारा या जिसमें बंधते हैं उसे बंध कहते हैं। बन्ध तीन प्रकारका है—जीवबन्ध, पुद्गलबन्ध और जीवपुद्गलबन्ध। एक शरीरमें रहनेवाले अनन्तानन्त निगोद जीवोंका जो परस्परबन्ध है वह जीवबन्ध है। दो, तीन आदि पुद्गलोंका जो समवाय है वह पुद्गलबन्ध है, तथा औदारिकवर्गणा, वैक्रियिकवर्गणा, आहारकवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्मणवर्गणाओंका तथा जीवोंका जो बन्ध होता है वह पुद्गल-जीवबन्ध है। जिस कर्मके कारण अनन्तानन्त जीव एक शरीरमें रहते हैं उस कर्मकी जीवबन्धसंज्ञा है। जिन स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणोंके कारण पुद्गलोंका बन्ध होता है उसकी पुद्गलबन्धसंज्ञा है। जिन मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग आदिके निमित्तसे जीव और पुद्गलोंका बन्ध होता है उन्हें जीवपुद्गलबन्ध कहते हैं। इस बन्धको भी केवलज्ञान जानता है।

छूटनेका नाम मोक्ष है। अथवा जिसके द्वारा या जिसमें छूटते हैं वह मोक्ष है। वह मोक्ष तीन प्रकारका है—जीवमोक्ष, पुद्गलमोक्ष और जीवपुद्गलमोक्ष। इसी प्रकार मोक्षका कारण भी तीन प्रकार कहना चाहिये। अतः केवलज्ञान बन्ध, बन्धका कारण, बन्धप्रदेश, बद्ध एवं बध्यमान जीव और पुद्गल तथा मोक्ष, मोक्षका कारण, मोक्षप्रदेश, मुक्त एवं मुच्यमान जीव और पुद्गल इन सब त्रिकाल विषयक अर्थोंको जानता है। यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

भोग व उपभोगरूप घोड़ा, हाथी, मणि व रत्नरूप सम्पदाको और सम्पदाके कारणको ऋद्धि कहते हैं। तीन लोकमे रहनेवाली सब सम्पदाओंको तथा सम्पदाके कारणोंको भी केवलज्ञानी जानता है। छह द्रव्योंका विवक्षित भावसे अवस्थान और अवस्थानके कारणका नाम स्थिति है। केवलज्ञान द्रव्यस्थिति, कर्मस्थिति, कायस्थिति, भवस्थिति और भावस्थिति आदि स्थितियोंको सकारण जानता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके साथ जीवादि द्रव्योंके मिलनका नाम

युति है। बन्ध एकीभावको कहते हैं और समीपता या संयोगको युति कहते हैं। उनमेंसे द्रव्ययुतिके तीन भेद हैं—जीवयुति, पुद्गलयुति और जीवपुद्गलयुति। एक कुल, ग्राम, नगर, बिल, गुफा और अटवीमें जीवोंके मिलनको जीवयुति कहते हैं। वायुके द्वारा चालित पत्तोंकी तरह एक स्थानपर पुद्गलोंका मिलना पुद्गलयुति है। जीव और पुद्गलोंका मिलना जीव पुद्गलयुति है। जीवादि द्रव्योंका नरकादि क्षेत्रोंके साथ मिलना क्षेत्रयुति है। उन्हीं द्रव्योंका दिन, महीना और वर्ष आदि कालोंके साथ मिलना कालयुति है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदिके साथ उनका मिलन भावयुति है। त्रिकालविषयक इन सब युतियोंके भेदोंको केवलज्ञान जानता है।

छह द्रव्योंकी शक्तिका नाम अनुभाग है। वह अनुभाग छह प्रकारका है—जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकायानुभाग और कालद्रव्यानुभाग। समस्त द्रव्योंका जानना जीवानुभाग है। ज्वर, कुष्ट और क्षय आदिका विनाश करना और उनको उत्पन्न करना पुद्गलानुभाग है। योनिप्राभृतमें कहे गये मंत्र, तंत्ररूप शक्तियां भी पुद्गलानुभाग है। जीव और पुद्गलोंके गमनागमनमें हेतु होना धर्मास्तिकायानुभाग है। उनके ठहरनेमें हेतु होना अधर्मास्तिकायानुभाग है। जीवादि द्रव्योंका आधार होना आकाशास्तिकायानुभाग है। अन्य द्रव्योंके क्रम और अक्रमसे परिणमनमें हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है। इस अनुभागको भी केवलज्ञान जानता है।

तर्क, हेतु और ज्ञापक ये एकार्थवाची हैं। इन्हें भी वह जानता है। चित्र, कर्म आदि कलाको भी जानता है। मनोवर्गणासे बने हुए हृदयकमलको मन कहते हैं। अथवा मनसे उत्पन्न हुए ज्ञानको मन कहते हैं। मनसे चिन्तित पदार्थोंको मानसिक कहते हैं उन्हें भी जानता है। राज्य, महाव्रत आदिके परिपालनका नाम भुक्ति है। उस भुक्तिको भी जानता है। जो कुछ तीनों कालोंमें अन्यसे निष्पन्न होता है उसका नाम कृत है। पांचों इन्द्रियों-

के द्वारा तीनों कालोंमें जो सेवित होता है उसका नाम प्रतिसेवित है। आद्य कर्मका नाम आदिकर्म है। इसका तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायरूपसे सब द्रव्योंकी आदिको जानता है। रहः शब्दका अर्थ अन्तर और अरहः शब्दका अर्थ अनन्तर है। अरहः कर्मको अरहः कर्म कहते हैं। उसको भी जानता है अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके विषयरूपसे सब द्रव्योंकी अनादिताको जानता है। सबलोकमें सब जीवोंके सब भावोंको जानता है। यह जानना युगपद् होता है क्योंकि केवलज्ञान अतीन्द्रिय और व्यवधान आदिसे रहित है। तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका अभाव होनेसे अथवा त्रिकालगोचर समस्त द्रव्यों और पर्यायोंको ग्रहण करनेसे केवलज्ञान सम्यक् प्रकारसे जानता है।

शायद कोई कहे कि केवलज्ञानी समस्त बाह्य पदार्थोंको ही जानते हैं अपनेको नहीं जानते, अतः वह सर्वज्ञ नहीं हो सकते, ऐसी आशंकाको दूर करनेके लिये 'जानते हैं' के साथ 'देखते हैं' भी कहा है। अर्थात् वे त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे युक्त आत्माको भी देखते हैं।[1]

इस तरह केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों एक साथ होते हैं।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें केवलीके भी ज्ञान और दर्शनको क्रमिक माना है। आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मतिके दूसरे काण्डमे इन दोनों ही मतोंकी समीक्षा करके यह सिद्ध किया है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोग वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। अकलंकदेवने राजवार्तिक (६।१०) में सिद्धसेनके अभेदवादी मतकी समीक्षा की है।

यद्यपि नय प्रमाणका भेद है तथापि दर्शनशास्त्रमें प्रमाणका जैसा महत्व है वैसा ही महत्त्व जैन सिद्धान्तमें नयका है। नयोंका सम्यग्ज्ञान हुए बिना वस्तुस्वरूपका सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। आचार्य देवसेनने अपने नयचक्र-में कहा है—

---

१. षट्खण्डागम पु० १३ पृ०३४६–३५१।

जे नयदिट्ठिविहूणा ताण ण वत्थु सहावउवलद्धी ।
वत्थुसहावविहीणा सम्माइट्ठी कहं होंति ।।

जो नयरूपी दृष्टिसे विहीन अर्थात् अन्ध हैं उन्हें वस्तुस्वरूपका ज्ञान कैसे हो सकता है और जिन्हें वस्तुस्वरूपका ज्ञान नहीं है वे सम्यग्दृष्टी कैसे हो सकते हैं ?

अतः जैन सिद्धान्तमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपको ठीक-ठीक समझनेके लिये नयोंका सम्यक् परिज्ञान आवश्यक है ।

प्रमाण स्वार्थ भी होता है और परार्थ भी होता है। ज्ञानात्मक प्रमाण स्वार्थ होता है और वचनात्मक प्रमाण परार्थ है । ज्ञानसे हम स्वयं जानते हैं और वचनके द्वारा दूसरोंको समझाते हैं । पहले कहे गये पांच प्रमाणोंमें-से मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान तो केवल स्वार्थ ही है । केवल श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो स्वार्थ भी है और परार्थ भी है। उसीमें वचनव्यवहार होता है और वचनव्यवहारपूर्वक जो विशेष ज्ञान होता है वह सब श्रुतज्ञान है। अतः नय श्रुतज्ञानके ही भेद हैं ।

श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका अंश जिसके द्वारा जाना जाता है उसे नय कहते हैं —

नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः ।।—त० श्लो. वा. १।३३।६। अर्थात् जो श्रुत प्रमाणके द्वारा जाने गये अर्थके किसी एक धर्मका कथन करता है वह नय है । आशय यह है जैन सिद्धान्तमें प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। इसीसे जैनदर्शनको अनेकान्तवादी दर्शन कहते हैं। अनेकान्तका अर्थ है परस्परमें विरुद्ध प्रतीत होनेवाले सत् असत्, एक अनेक, भेद अभेद, नित्य अनित्य आदि धर्मोंका तादात्म्यरूप ही वस्तु है । अर्थात् प्रत्येक वस्तु दृष्टिभेदसे नित्य भी है अनित्य भी है, एक भी है अनेक भी है, सत् भी है असत् भी है । न कोई वस्तु एकान्तसे नित्य ही है और न अनित्य ही है, न एकान्तसे सत् ही और न असत् ही है । किन्तु नित्यानित्यात्मक एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक सदसदात्मक होनेसे अनेकान्तात्मक

है। अनेकान्तात्मक वस्तु प्रमाणका विषय है। इसीलिये प्रमाणको सकलादेशी कहा है वह सम्पूर्ण धर्मात्मक वस्तुको जानता है, किन्तु अनेकधर्मात्मक वस्तुके किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वक्ता अपने अभिप्रायानुसार कथन करता है। जैसे देवदत्त नामका व्यक्ति किसीका पिता और किसीका पुत्र है अपने नानासम्बन्धियोंकी अपेक्षा वह नानासम्बन्धवाला है। किन्तु उन नाना सम्बन्धोंमेंसे पुत्रत्वधर्मकी विवक्षासे उसका पिता उसे पुत्र कहता है और पितृत्वधर्मकी विवक्षासे उसका पुत्र उसे पिता कहता है। इसी तरह विवक्षा भेदसे जो वस्तुके एक धर्मका कथन किया जाता है वह नय है। नय वस्तुके एक धर्मका ग्राहक है इसीसे नयको विकलादेशी कहा है। समस्त लोक-व्यवहार नयाधीन है क्योंकि ज्ञाता पूर्ण वस्तुको जानकर भी अपने अभि-प्रायके अनुसार उसका कथन करता है। इसीसे ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहा है। नयज्ञान ज्ञाताके अभिप्रायसे सम्बन्ध रखता है। नयज्ञानमें ज्ञाताके अभि-प्रायानुसार वस्तु प्रतिबिम्बित होती है। किन्तु प्रमाणज्ञानमें वस्तु जैसी कुछ है वह प्रतिबिम्बित होती है। इसीसे नयज्ञान सापेक्ष होनेपर ही सम्यक् कहे जाते है क्योंकि प्रत्येक नय दृष्टिभेदसे वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करता है। किन्तु वस्तुमें तो उसके सिवाय भी अनेक धर्म हैं अतः किसी एकधर्म-को ही पूर्ण वस्तु मानना मिथ्या है।

शंका—'स्व' और 'अर्थ'के निश्चायक ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, नय भी स्व और अर्थका निश्चायक है अतः वह भी प्रमाण ही ठहरता है तब प्रमाण और नयमें कोई भी भेद प्रतीत नहीं होता।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही है, नय स्व और अर्थके एक देश-का निश्चायक है और प्रमाण सर्वदेशका निश्चायक है इसलिये नय और प्रमाणमें भेद है।

शंका—स्व और अर्थका एकदेश वस्तु है या अवस्तु ? यदि वस्तु है

---

१. त० श्लो० वा० १।६।३-६।



तो उसको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है क्योंकि प्रमाण वस्तुको जानता है। यदि वह अवस्तु है तो उसको जानने वाला मिथ्या ठहरता है क्योंकि जो ज्ञान अवस्तुको विषय करता है वह मिथ्या होता है।

समाधान—जैसे समुद्रका एक अंश समुद्र नहीं है क्योंकि एक अंशको ही समुद्र मान लेनेसे समुद्रके शेष अंश या तो असमुद्र कहे जायेंगे या फिर प्रत्येक अंशको समुद्र मान लेनेसे बहुतसे समुद्र हो जायेंगे। समुद्रके एक अंशको असमुद्र माननेसे समुद्रके शेष अंशोंको भी असमुद्र मानना होगा और ऐसी स्थितिमें कहीं भी समुद्रका व्यवहार नहीं बन सकेगा। अतः समुद्रके एक अंशको समुद्रका एक अंश कहना ही उचित है। इसी तरह नयका विषय स्वार्थका एकदेश न तो वस्तु है क्योंकि एकदेशको ही वस्तु मान लेनेपर स्वार्थके अन्यदेश या तो अवस्तु कहे जायेंगे या प्रत्येक देश एकवस्तु होनेसे वस्तुबहुत्वका प्रसंग उपस्थित होगा। तथा स्वार्थका एक देश अवस्तु भी नहीं है क्योंकि ऐसी दशामें शेष अंश भी अवस्तु ठहरेंगे और तब कहीं भी वस्तुकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः वह वस्तुका एकदेश होनेसे वस्तु-अंश है ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है।

अतः प्रमाणके द्वारा जानी गई वस्तुके एक अंशको प्रधान करके जो वस्तुका निर्णय किया जाता है वह प्रमाण नहीं है, नय है। यद्यपि प्रमाण भी ज्ञान है और नय भी ज्ञान है दोनों ही ज्ञान हैं तथापि नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशमें प्रवृत्ति करता है अतः उसे प्रमाण न कहकर नय कहते है। यही दोनोंमें अन्तर है।

शंका—जैसे वस्तुका अंश न वस्तु है और न अवस्तु, किन्तु वस्तुका अंश है वैसे ही अंशोंका समूहरूप अंशी भी न वस्तु है और न अवस्तु, वह तो केवल अंशी है और वस्तु तो अंश और अंशीके समूहको कहते हैं। अतः जैसे अंशोंको जाननेवाला ज्ञान नय है वैसे ही अंशीको भी जाननेवाला ज्ञान नय है, यदि अंशीको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है तो अंशोंको भी जाननेवाला ज्ञान प्रमाण ही कहलायेगा और ऐसी स्थितिमें नय प्रमाणसे भिन्न नहीं ठहरता।

समाधान—जब अंशीके सब अंश गौण हों तो उसको जाननेवाला ज्ञान नय ही है क्योंकि ऐसा अंशी द्रव्यार्थिकनयका विषय होता है। और जब अंशीके सब अंश प्रधान हों तो उनको जाननेवाला ज्ञान भी नय ही है, क्योंकि ऐसे अंश पर्यायार्थिक नयका विषय होते हैं। अतः प्रमाणसे नय भिन्न है।

शंका—तब तो नय अप्रमाण हुआ और ऐसी स्थितिमें मिथ्याज्ञानकी तरह वह अधिगमका उपाय कैसे हो सकता है? क्योंकि प्रमाणसे भिन्न नय तो अप्रमाण ही ठहरता है। जो प्रमाण नहीं है वह अप्रमाण है और जो अप्रमाण नहीं है वह प्रमाण है। दूसरी तो कोई गति ही नहीं है?

समाधान—प्रमाण और अप्रमाणसे भी भिन्न गति है और वह है प्रमाणैकदेश। नय न तो प्रमाण ही है क्योंकि वह प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न नहीं है, और न अप्रमाण ही है क्योंकि वह प्रमाणसे सर्वथा भिन्न भी नहीं है। अंश अंशीमें कथंचित् भेद होता है।

शंका—जिस दृष्टिसे प्रमाण और उसके एकदेश नयमें भेद है उस दृष्टिसे नय अप्रमाण ठहरता है और जिस दृष्टिसे अभेद है उस दृष्टिसे नय प्रमाण ठहरता है?

समाधान—इस कथनमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, हम नयको एकदेशसे प्रमाण और एकदेशसे अप्रमाण स्वीकार करते है। पूरी तरहसे नयको हम प्रमाण या अप्रमाण नहीं मानते। जैसे समुद्रके एकदेशको पूरी तरहसे समुद्र या असमुद्र नहीं मानते।

शंका—नय पूरी तरहसे प्रमाण है क्योंकि प्रमाणकी तरह वह भी संवादक है।

समाधान—नय एकदेशसे ही संवादक है पूरी तरहसे नहीं।

शंका—तब तो प्रत्यक्ष आदिको भी प्रमाण नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वे भी एकदेशसे ही संवादक होते हैं।

समाधान—प्रत्यक्ष, स्मृति आदि प्रमाण कतिपय पर्यायात्मक द्रव्यके

ही संवादक होनेसे प्रमाण माने गये हैं उनका विषय ही उतना है। उसीसे वे सकलादेशी कहे जाते हैं। किन्तु सकलादेशीपना ही अकेला सत्य नहीं है। यदि ऐसा माना जायगा तो विकलादेशी नय असत्य हो जायगा। नय न तो सकलादेशी ही है और न असत्य ही है। प्रमाणकी तरह नयसे जाने गये वस्तुअंशमें भी कोई बाधक उपस्थित नहीं होता। किन्तु सकलादेशी होनेसे प्रमाण नयसे पूज्य माना जाता है। प्रमाण समस्त वस्तुके विषयमें उत्पन्न हुए विवादको दूर करता है किन्तु नय वस्तुके एकदेशमें उत्पन्न हुए विवादको ही दूर करनेमें समर्थ है।

मतिज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञानके द्वारा जानी गई वस्तुके एक अंशमें नयकी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि नय समस्त देश और कालवर्ती अर्थोंको जाननेमें समर्थ हैं किन्तु मति आदि ज्ञानोंका विषय सीमित है। यद्यपि केवलज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त अर्थोंको जानता है किन्तु वह तो स्पष्ट है और नय परोक्ष होनेसे अस्पष्ट है। अतः नयोंका मूल केवलज्ञान भी नहीं है। शेष रहता है श्रुतज्ञान, उसीके भेद नय है। कहा भी है—

मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा।
ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥२४॥
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात्।
तस्येति भाषितं कैश्चिद् युक्तमेव तथेष्टितः ॥२५॥
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः।
केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥२६॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु।
श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥२७॥

—त० श्लो० वा०, १।६।

नयके भेद

जैनदर्शनमें वस्तु सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक है। और वस्तुके एक अंशके ग्राहीको नय कहते हैं। अतः सामान्य या द्रव्यांशका

ग्राही द्रव्यार्थिक नय है और विशेष या पर्यायांशका ग्राही पर्यायार्थिक नय है। इस तरह नयके मूलभेद दो ही हैं, अन्य सब नय इन्हींके भेद-प्रभेद हैं।

यही बात आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मतिसूत्रकी प्रारम्भिक गाथामें कही है—

तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवायरणी ।
दव्वट्ठियो य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥ ३ ॥

अर्थात् तीर्थंकरके वचनोंकी सामान्य और विशेषरूप राशियोंके मूल व्याख्याता द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। शेष सब उन्हींके भेद हैं।

यही बात आचार्य देवसेनने नयचक्रमें कही है—

दो चेव मूलिमणया भणिया दव्वत्थ-पज्जयत्थगया ।
अण्णं असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ॥ ११ ॥

मूल नय दो ही कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। अन्य असंख्यात और संख्यात नय इन्हीं दोनोंके भेद जानने चाहिये।

नयके भेद-प्रभेदोंकी कोई संख्या निश्चित नहीं है। एक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है और वस्तुके एक एक धर्मका ग्राही नय है। अतः जितने वस्तुके धर्म है उतने ही नय हैं। किन्तु वे सब नय मूलतः दो दृष्टियोंमें समाविष्ट हैं—एक अभेदपरक या सामान्यग्राही दृष्टि, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। और एक भेदपरक या विशेषग्राही दृष्टि, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक नय वस्तुको केवल सामान्यरूप ही देखता है और पर्यायार्थिक नय उसी वस्तुको केवल विशेषरूप ही देखता हैं। फलतः पर्यायार्थिक नय की दृष्टिमें सभी पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं और द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिमें सभी वस्तुएँ सदा उत्पत्ति और विनाशसे रहित हैं। किन्तु कोई भी वस्तु उत्पाद विनाशसे रहित केवल ध्रुव नहीं है और न ध्रौव्यसे रहित केवल उत्पाद-विनाशशील है। क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह मूल रूप स्थिर रहनेपर भी उत्पाद-विनाशशील

है। इसीसे दोनों नय अलग अलग मिथ्या माने गये हैं क्योंकि दोनोंमेंसे किसी भी एक नयका विषय पूर्ण सत्य नहीं है। सत्का लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है। इनमेसे द्रव्यार्थिक नय केवल ध्रौव्यांशका ग्राही है, और पर्यायार्थिक नय उत्पाद-व्ययका। किन्तु वस्तु न तो केवल ध्रौव्यरूप हैं और न केवल उत्पाद-व्ययरूप है किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। अतएव इन दोनोंमेंसे यदि कोई एक नय वस्तुके सम्पूर्णस्वरूपके प्रतिपादनका दावा करता है तो वह मिथ्या है। परन्तु जब ये दोनो ही नय परस्पर सापेक्ष रूपसे प्रवृत्त होते हैं अर्थात् अपने प्रतिपक्षी दूसरे नयका निरसन किये बिना उसकी ओरसे उदासीन रहकर अपने विषयका प्रतिपादन करते हैं तो दोनों ही सम्यक् कहलाते हैं।

इसीसे आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।

—आ० मी०

जो बात इन दोनों मूल नयोंके विषयमें कही गई है वही बात अन्य नयोंके विषयमें भी समझना चाहिये अर्थात् जैसे ये दोनों नय अलग अलग मिथ्या हैं वैसे ही दूसरे सब नय भी अलग अलग मिथ्या है।

यही बात सन्मति सूत्रमें आचार्य सिद्धसेनने कही है—

तम्हा सव्वे वि नया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ २१ ॥

अतएव अपने अपने पक्षमें प्रतिबद्ध सभी नय मिथ्यादृष्टि है। परन्तु यदि ये ही परस्पर सापेक्ष हों तो सम्यग्रूप होते हैं।

इस तरह नयके दो मूल भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। और इन दोनों नयोंके सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजूसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। इनमेंसे प्रथम तीन द्रव्यार्थिकके भेद हैं और शेष चार पर्यायार्थिकके। यही बात आचार्य विद्यानन्दने कही है—

संक्षेपाद्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ ।
द्रव्यार्थो व्यवहारान्तः पर्यायार्थस्ततोऽपरः ॥ ३ ॥
त० श्लो० वा० १।३३।

संकल्प मात्रके ग्राहकको नैगमनय कहते हैं। निगमका अर्थ है संकल्प। उससे जो उत्पन्न हो अथवा वही जिसका प्रयोजन हो वह नैगमनय है। जैसे कोई पुरुष कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी काटनेके लिये जाता है। उससे कोई पूछता है आप किस लिये जाते हैं ? तो वह उत्तर देता है कि मैं प्रस्थ लेने जाता हूँ। यद्यपि उस समय प्रस्थ नहीं है किन्तु उसका संकल्प है कि मैं जंगलसे लकड़ी काटकर उसका प्रस्थ बनाऊँगा। इस संकल्पमात्रमें ही वह प्रस्थ व्यवहार करता है। यह व्यवहार नैगमनयका विषय है। इसी तरह कोई आदमी पानी भरकर लकड़ी डाल रहा है। उससे कोई पूछता है क्या करते हो ? वह उत्तर देता है—भात पकाता हूँ। यद्यपि उस समय भात नहीं है किन्तु उसका संकल्प भात पकानेका है। उस संकल्पमें ही वह भातका व्यवहार करता है। इस प्रकारके संकल्प नैगमनयके विषय है।

अथवा 'नैकं गमो नैगमः' जो धर्म और धर्मीमेंसे एकको ही नहीं जानता, किन्तु गौणता और मुख्यतासे दोनोंको जानता है वह नैगमनय है। इस परसे यह आशंका हो सकती है कि जब नैगमनय धर्म और धर्मी दोनोंको जानता है तो वह प्रमाण ही कहा जायेगा। इसका समाधान यह है कि प्रमाण तो धर्म और धर्मी दोनोंको ही प्रधानरूपसे ग्रहण करता है। किन्तु नैगमनय दोनोंमेंसे एकको प्रधान और दूसरेको गौणरूपसे जानता है। इसीसे नैगमके तीन भेद भी किये गये हैं—पर्यायनैगम, द्रव्य-नैगम और द्रव्यपर्यायनैगम। 'आत्मामे चैतन्य सत् है' इस उदाहरणमें चैतन्यपर्याय ;विशेष्य होनेसे मुख्य है और सत्पर्याय विशेषण होनेसे गौण है। 'पर्यायवद् द्रव्य वस्तु है' इस उदाहरणमें 'पर्यायवद् द्रव्य 'धर्मी विशेष्य होनेसे मुख्य है और वस्तुरूप धर्मी विशेषण होनेसे गौण है। इस तरह इस उदाहरणमें एक द्रव्यकी गौणता और एककी मुख्यता विवक्षित है। 'विषया-

सक्त जीव एक क्षणके लिये सुखी होता है' इस उदाहरणमें विषयासक्त जीव-रूप धर्मी विशेष्य होनेसे मुख्य है और सुखरूप धर्म विशेषण होनेसे गौण है। इस प्रकार इसमें द्रव्यकी मुख्यता और पर्यायकी गौणता विवक्षित है।

अकलंकदेवने नैगमनयका स्वरूप इसी प्रकार कहा है—

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि।
विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥

—लघीयस्त्रय

एक धर्मीमें दो धर्मोंकी गौणता और मुख्यताकी विवक्षाको नैगमनय कहते हैं। और अत्यन्त भेद मानना नैगमाभास है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (१।३३) में आचार्य विद्यानन्दने नैगमनयके अन्य भी भेदोंका विवेचन किया है। यथा—पर्यायनैगमके तीन भेद हैं—अर्थपर्यायनैगम, व्यञ्जनपर्यायनैगम और अर्थव्यंजनपर्यायनैगम। द्रव्य-नैगमके भेद हैं—शुद्धद्रव्यनैगम और अशुद्धद्रव्यनैगम। द्रव्यपर्याय-नैगमके चार भेद हैं—शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम, शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगम, अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम और अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगम। नैगम नयके इन नौ भेदोंके मिलानेसे नयके पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

संग्रहनय

अपनी जातिका विरोध न करके समस्त विशेषोंको एक रूपसे ग्रहण करनेवाला संग्रहनय है। संग्रहनयके दो भेद हैं—परसंग्रहनय और अपर-संग्रहनय। समस्त विशेषोंमें सदा उदासीन रहनेवाला परसंग्रहनय सन्मात्र शुद्धद्रव्यका ग्राहक है। जैसे सत्सामान्यकी अपेक्षा विश्व अद्वैतरूप है। किंतु जो विशेषोंका निराकरण करके सत्ताद्वैतको मान्य करता है वह परसंग्रहा-भास है। शब्दाद्वैत, पुरुषाद्वैत, ज्ञानाद्वैत आदि अद्वैतवाद ऐसे ही संग्रहा-भास हैं।

सत्सामान्यके अवान्तर भेदोको एक रूपसे संग्रह करनेवाला नय अपर-

संग्रहनय है। जैसे द्रव्यत्वकी अपेक्षा सब द्रव्य एक है और पर्यायत्वकी अपेक्षा सब पर्याय एक हैं। यह नय भी अवान्तर भेदोंमें उदासीन रहता है, उनका निराकरण नहीं करता। यदि वैसा करे तो वह नयाभास है। जैसे द्रव्यत्व द्रव्यात्मक ही है, उससे भिन्न द्रव्य नहीं है ऐसा माननेवाला अपरसंग्रहाभास है। इसी तरह पर्यायत्व पर्यायात्मक ही है उससे भिन्न पर्याय नहीं है, ऐसा माननेवाला नय भी अपरसंग्रहाभास है। अपरसंग्रह-की तरह अपरसंग्रहाभास भी अनेक हैं। जैसे जीवत्व सामान्यकी अपेक्षा सब जीवोंको एकरूपसे और पुद्गलत्व सामान्यकी अपेक्षा सब पुद्गलोंको एकरूपसे ग्रहण करनेवाला अपर संग्रहनय है और जीवत्वको जीवात्मक ही तथा पुद्गलत्वको पुद्गलात्मक ही माननेवाला अपर संग्रहाभास है क्योंकि जीवत्व आदि सामान्य अपने व्यक्तियोंसे कथंचित् भिन्न प्रतीत होते हैं।

अकलंकदेवने संग्रहनय और संग्रहाभासका स्वरूप इसी प्रकार कहा है—

> सदभेदात् समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः।
> दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात्तत्स्वरूपानवाप्तितः॥
>
> —लघीयस्त्रय।

सत्के अभेदसे समस्तको एक रूपसे ग्रहण करनेके कारण उसे संग्रह-नय कहते है। ब्रह्माद्वैतवाद संग्रहाभास है क्योंकि भेदसे शून्य सन्मात्र तत्व-का स्वरूप प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता।

व्यवहारनय

संग्रहनयके द्वारा गृहीत अर्थोंका विधिपूर्वक विभाग करनेवाले अभि-प्रायको व्यवहारनय कहते हैं। जैसे पर संग्रहनय सबको सत्रूपसे ग्रहण करता है। व्यवहारनय उसका विभाग करता है जो सत् है वह द्रव्य और पर्यायरूप है। अपर संग्रहनय सब द्रव्योंको द्रव्यरूपसे और सब पर्यायको पर्यायरूपसे ग्रहण करता है। व्यवहारनय उसका विभाग करता है—जो

द्रव्य है वह जीवादिके भेदसे छै प्रकारका है। जो पर्याय है वह सहभावी और क्रमभावीके भेदसे दो प्रकारकी है। इस प्रकार अपर संग्रह और व्यवहारनयका विस्तार पर संग्रहसे आगे और ऋजूसूत्र नयसे पूर्व तक चलता है, क्योंकि सभी वस्तुएँ सामान्यविशेषात्मक हैं।

जो द्रव्य-पर्यायका विभाग काल्पनिक मानता है वह व्यवहाराभास है।

ऋजुसूत्रनय

नित्य द्रव्यकी उपेक्षा करके जो एक क्षणवर्ती पर्याय मात्रको प्रधानतासे स्वीकार करता है वह ऋजूसूत्रनय है। और जो द्रव्यका निराकरण करके केवल क्षणिक पर्यायको ही सत् मानता है वह ऋजुसूत्राभास है। जैसे बौद्धोंका क्षणिकवाद।

शब्दनय

जो काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग आदिके भेदसे अर्थको भेदरूप स्वीकार करता है उसे शब्दकी प्रधानताके कारण शब्दनय कहते हैं। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार है—'उसके विश्वदृश्वा (जिसने विश्वको देख लिया है) पुत्र पैदा होगा' ऐसा व्यवहारमें कहा जाता है और व्याकरणशास्त्र सम्मत है। यहाँ भविष्यकालके साथ अतीतकालका अभेद इष्ट है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि कालभेद होनेपर भी अर्थका अभेद माननेपर अतिप्रसंग दोष आता है—ऐसी स्थितिमें भूतकालवर्ती रावण और भविष्यकालवर्ती शंख चक्रवर्ती भी एक हो जायेंगे। शायद कहा जाये कि रावण हो चुका और शंख चक्रवर्ती होगा इन दोनों वाक्योंका विषय भिन्न है अतः दोनोंका एक अर्थ नहीं हो सकता, तो 'विश्वदृश्वा' और 'उत्पन्न होगा' इन दोनोंका विषय भी भिन्न हैं, विश्वको जो देख चुका है वह विश्वदृश्वा है इस तरह यह शब्द अतीतकालको विषय करता है और 'उत्पन्न होगा' यह शब्द भविष्यत्कालको विषय करता है। भावि पुत्र अतीत कैसे हो सकता है। शायद कहा जाये कि अतीतकालमें अनागतका

आरोप करके दोनोंको एकार्थ मान लेंगे तो यह तो परमार्थ अर्थव्यवस्था नहीं कही जायेगी, आरोपित ही कहलायेगी।

इसी तरह 'देवदत्त घटको करता है' और 'देवदत्तके द्वारा घट किया जाता है' इन दोनों वाक्योंमें कर्तृवाच्य और कर्मवाच्यका भेद होनेपर एकार्थता मानी जाती है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वाक्यभेदसे वाक्यार्थमें भेद होता है। 'पुष्यः' और 'तारकाः' शब्दोंमें लिंगभेद है। 'पुष्यः' पुल्लिंग है और 'तारकाः' स्त्रीलिंग है अतः लिंगभेदसे भी अर्थभेद होता है। इसी तरह 'आपः' और 'अम्भः' इन दोनों शब्दोंमें एकवचन और बहुवचनका भेद होनेपर भी एक ही अर्थ 'जल' लिया जाता है। यह सब शब्दनयकी दृष्टिमें ठीक नहीं है। वह कालादिके भेदसे अर्थभेद मानता है क्योंकि काल कारक, उपसर्ग आदिके भेदसे रचे गये शब्द भिन्न-भिन्न हैं। जैसे कि घट, पट आदि शब्द।

समभिरूढनय

शब्दभेदसे अर्थभेद माननेवाला समभिरूढनय है। आशय यह है कि शब्दनय शब्दभेदसे अर्थभेद नहीं मानता उसकी दृष्टिमें विश्वदृश्वा और सर्वदृश्वा, या जल और सलिल शब्दोंके अर्थमें भेद नहीं है, कारक भेद, कालभेद, लिंगभेद, या वचनभेद होनेपर ही अर्थभेद होता है। किन्तु समभिरूढनय एक ही लिंग, एक ही वचन आदिके शब्दोंमें पर्यायभेद होनेपर भिन्न अर्थ मानता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीनों शब्द एक ही लिंग वाले हैं और स्वर्गके स्वामी इन्द्रके वाचक हैं किन्तु इनमें पर्यायभेद है, अतः ये तीनों शब्द इन्द्रके भिन्न-भिन्न गुणोंको कहते हैं। वह आनन्द करता है इसलिये इन्द्र है, शक्तिशाली होनेसे शक्र है, पुरोंको नष्ट करनेवाला होनेसे पुरन्दर है। इस तरह यह नय पर्यायभेदसे शब्दके भिन्न अर्थ मानता है।

एवंभूतनय

जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है वह क्रिया जब हो रही हो तभी

उस शब्दकी प्रवृत्ति इस नयको इष्ट है। समभिरूढनयको तो शकन क्रिया हो रही हो या न हो रही हो, इन्द्रको शक्र कहना इष्ट है। किन्तु एवं-भूतनय शकन क्रिया करते हुए ही इन्द्रको शक्र मानता है अन्यकालमें नहीं।

ये सातों ही नय परस्पर सापेक्ष अवस्थामें ही सम्यक् माने जाते हैं, निरपेक्ष अवस्थामें दुर्नय कहे जाते हैं। इनमेंसे नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नयोंको अर्थनय भी कहते हैं और शेष तीन नयोंको शब्दनय कहते हैं क्योंकि वे शब्दकी प्रधानतासे उसके वाच्यार्थको विषय करते हैं।

इन नयोंमें संग्रहनय तो सन्मात्रका ग्राहक और नैगमनय सत् असत् दोनोंका ग्राहक है, अतः संग्रहनयसे नैगमनयका विषय अधिक है। व्यव-हारनय सत्के भेदका ग्राहक है और संग्रहनय समस्त सत्समूहका ग्राहक है, अतः व्यवहारनयसे संग्रहका विषय अधिक है। ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान पर्यायका ही ग्राहक है और व्यवहारनय त्रिकालवर्ती अर्थका ग्राहक है, अतः ऋजूसूत्रसे व्यवहारनय बहु विषयवाला है। इसी तरह ऋजूसूत्रसे शब्दनयका विषय अल्प है। शब्दनय कालादिके भेदसे अर्थभेदका ग्राहक है और सम-भिरूढनय तो प्रत्येक पर्यायशब्दका भिन्न अर्थ मानता है, अतः समभिरूढसे शब्दनयका बहुविषय है। एवंभूतनय क्रियाभेदसे अर्थभेद मानता है, अतः समभिरूढसे अल्प विषय है। इस तरह ये नय उत्तरोत्तर अनुकूल और अल्प विषय वाले हैं।

निश्चयनय व्यवहारनय

सब सैद्धान्तिक और दार्शनिक ग्रन्थोंमें इन्हीं नयोंका कथन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्दने यद्यपि नैगमादिनयोंका कथन नहीं किया किन्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायिकनयसे वस्तुके स्वरूपका विवेचन प्रवचनसारमें किया है। परन्तु समयसारमें उन्होंने नौ तत्त्वोंका विवेचन निश्चय और व्यवहार नयसे किया है। फलतः कुन्दकुन्दकृत ग्रन्थोंकी टीकाओंमें तथा तदनुसारी परमात्मप्रकाश, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें और उनकी टीकाओंमें निश्चय और व्यवहारनयोंसे ही सब कथन किया गया है। एक ओर उन ग्रन्थोंमें जो आध्यात्मिक कहे जाते हैं, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका नाम

देखनेको नहीं मिलता तो दूसरी ओर इनसे भिन्न सैद्धान्तिक और तार्किक ग्रन्थोंमें निश्चयनय-व्यवहारनयका निर्देश नहीं मिलता। इसका कारण क्या है ?

आलापपद्धतिमें, जो दसवीं शताब्दीकी रचना है, गुण, स्वभाव और पर्यायके साथ नयोंका भी विवेचन है। उसमें उक्त सात नयोंके सिवाय द्रव्यार्थिकके दस तथा पर्यायार्थिकके छै अन्य भेदोंका भी विवेचन है जो उससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें नहीं देखा गया।

सब विवेचन करनेके पश्चात् लिखा है—('अधुना अध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते') अर्थात् अब अध्यात्मभाषाके द्वारा नयोंका कथन करते हैं और ऐसा लिखकर निश्चयनय और व्यवहारनयका तथा उनके भेदोंका विवेचन किया है। इस कथनसे तथा अध्यात्मग्रन्थोंमें इन दोनों नयोंकी चर्चा पाये जानेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों नय अध्यात्मदृष्टिसे सम्बद्ध हैं—अध्यात्ममें वस्तु-विचार उन्हींके द्वारा किया जाता है।

इसके साथ ही आलापपद्धतिमें नयोंका विवरण प्रारम्भ करनेसे पूर्व एक गाथा दी है और जैसे देवसेनके नयचक्रमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकको मूल नय कहा है वैसे ही उस गाथामें निश्चय और व्यवहारको मूल नय कहा है—यथा

णिच्छय-ववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेउ दव्वय-पज्जत्थिया मुणह ॥

अर्थात सब नयोंके मूलभेद निश्चय नय और व्यवहार नय है और निश्चयकी साधनामें हेतु द्रव्यार्थिक और पर्यार्थिक नय हैं।

नयचक्रकी तरह आलापपद्धतिके कर्ता भी देवसेन ही कहे जाते हैं क्योंकि आलापपद्धतिके प्रारम्भमें नयचक्रके ऊपर उसके रचनेका निर्देश है।

यथा—आलापपद्धतिर्वचनरचनानुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते।

अतः नयचक्रमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकको मूलनय कहना और आलापपद्धतिमें निश्चय और व्यवहारको मूलनय कहना कुछ असंगत-सा

प्रतीत होता है। इसके साथ ही आलापपद्धतिमें प्रधानरूपसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका ही कथन किया गया है, निश्चय और व्यवहारका तो अन्तमें कथन किया है।

किन्तु इन दोनों कथनोंको यदि जिन दृष्टियोंसे वे किये गये हैं उन दृष्टियोंसे देखा जाये तो दोनों ही कथन संगत प्रतीत होते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिसे तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ही मूल नय हैं क्योंकि जब वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है और वस्तुके एक अंशको ग्रहण करनेवाले अभिप्रायको नय कहते हैं तो द्रव्यांशका ग्राहक द्रव्यार्थिक और पर्यायांशका ग्राहक पर्यायार्थिक नय ही मूल नय होने चाहिये, द्रव्य और पर्यायसे भिन्न तो कोई वस्तु है नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारमें इन दोनों नयोंसे वस्तु-का विवेचन करते हुए लिखा है—

> दव्वट्ठियेण सव्वं दव्वं तं पज्जट्ठियेण पुणो।
> हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो॥ २२॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने लिखा है—

सभी वस्तुएँ सामान्यविशेषात्मक हैं। अतः वस्तुके स्वरूपको देखने-वालोंके सामान्य और विशेषको जाननेवाली दो आँखे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमेंसे पर्यायार्थिक चक्षुको बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्याय रूप विशेषोंमें रहनेवाले एक जीवसामान्यको देखनेवाले और विशेषोंको न देखनेवालोंको सब जीव द्रव्य ही हैं ऐसा भासित होता है। और जब द्रव्यार्थिक चक्षुको बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षुसे देखा जाता है तो जीवद्रव्यमें रहनेवाले नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्धपर्यायोंको ही देखनेवाले और सामान्यको न देखनेवाले जीवों-को वह जीव द्रव्य अन्य अन्य ही भासित होता है, क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषोंके समय तन्मय होनेसे उन उन विशेषोंसे अभिन्न है। जैसे घास,

लकड़ी, कण्डे आदिकी आग उस उस समय घासमय, लकड़ीमय होनेसे घास, लकड़ी आदिसे अभिन्न है। और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखोंको एक साथ खोलकर देखते हैं तब नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, और सिद्ध पर्यायोंमें रहनेवाला जीवसामान्य तथा जीवसामान्यमें रहनेवाले नारक आदि पर्यायरूप विशेष एक ही साथ दिखाई देते हैं। यहाँ एक आँखसे देखना एक देश देखना है और दोनों आँखोंसे देखना सम्पूर्ण देखना है।

इस तरह सैद्धान्तिक दृष्टिसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ही मूल नय हैं जो सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुके एक एक अंशके ग्राहक हैं।

किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार नय ही मूल नय हैं, क्योंकि अध्यात्मका लक्ष्य है आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्रतीति, अनुभूति और प्राप्ति। वह निश्चयनयके बिना संभव नहीं है। आत्माके शुद्ध स्वरूपका दर्शन उसीसे होता है, इसीसे उसे शुद्ध नय भी कहा है। उसका स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्रने इस प्रकार कहा है—

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥ १०

—समयसारटीका

परभावोंसे भिन्न, परिपूर्ण, आदि और अन्तसे रहित, एक तथा समस्त संकल्प-विकल्पोंके जालसे शून्य आत्मस्वभावको प्रकाशित करता हुआ शुद्ध नय उदित होता है।

इस निश्चयनयके साधनमें हेतु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक हैं। इन दोनों नयोंके द्वारा वस्तुके स्वरूपको यथावत् जानकर ही शुद्धनयके द्वारा शुद्ध स्वरूपको जाना जा सकता है।

यों तो द्रव्यार्थिक और निश्चयनयको तथा पर्यायार्थिक और व्यवहार-नयको एक ही कहा जाता है। जैसा पञ्चाध्यायीमें कहा गया है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर दोनोंमें अन्तर प्रतीत होता है।

द्रव्यार्थिकनय अभेदग्राही है और पर्यायार्थिक भेदग्राही है। इसी तरह निश्चयनय भी अभेदग्राही है और व्यवहारनय भेदग्राही है। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारके प्रारम्भमें कहा है।

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

आत्मामें चारित्र, दर्शन, ज्ञान हैं यह व्यवहारनयसे कहा जाता है। निश्चयनयसे तो न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है, वह शुद्ध ज्ञायकमात्र है।

अतः द्रव्यार्थिकनय और निश्चयनय दोनोंकी ही दृष्टिमें अखण्ड एक द्रव्यमें भेदकल्पना भी अशुद्धता है। उसका एक अखण्ड रूप ही शुद्ध है, वास्तविक है। इसी दृष्टिसे आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मतिसूत्रमें संग्रहनयको द्रव्यार्थिकनयकी शुद्ध प्रकृति कहा है क्योंकि वह सत्तारूप तत्त्वको अखण्ड रूपसे ग्रहण करता है, और सत्ताको जीव, अजीव आदि रूपसे खण्डित करके ग्रहण करनेवाला व्यवहारनय है, अतः उसे अशुद्ध प्रकृति कहा है। अष्टसहस्री (का० १०४) में आचार्य विद्यानन्दने भी ऐसा ही कहा है। किन्तु अध्यात्मशास्त्रमें शुद्ध द्रव्यार्थिकके रूपमें संग्रहनयको नहीं अपनाया गया। इसका कारण है कि अध्यात्मशास्त्रके शुद्ध द्रव्यार्थिक या शुद्ध निश्चय-नयमें और संग्रहनयमें अन्तर है। शुद्धनय तो परभावसे भिन्न निर्विकल्प वस्तुका ग्राही है किन्तु संग्रहनय विभिन्न वस्तुओंमें वर्तमान एकत्वकी दृष्टिसे सबको सत् रूपेण ग्रहण करता है। इसीसे नयचक्र और आलापपद्धतिमें द्रव्यार्थिकनयके जो दस भेद बतलाये हैं उनमें संग्रहनयका कोई स्थान नहीं है, प्रत्युत कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक, भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक आदि भेद हैं जो निश्चयनयकी समकक्षता करते हैं।

इसी तरह अध्यात्ममें जो व्यवहारनय है वह व्यवहारनय भी द्रव्यार्थिकनयके भेदरूप व्यवहारनयसे भिन्न है, क्योंकि अध्यात्म क्षेत्रका व्यवहारनय निश्चयनय या शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका भेद नहीं है उससे भिन्न है।

इन बातोंको दृष्टिमें रखकर गुरुवर्य स्व० पं० गोपालदासजी बरैयाने अपने जैनसिद्धान्तदर्पणमें आध्यात्मिक और शास्त्रीय नयोंका संकलन इस प्रकार किया है—

नयके मूल भेद दो हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भी दो दो भेद हैं—अध्यात्म द्रव्यार्थिक और शास्त्रीय द्रव्यार्थिक तथा अध्यात्म पर्यायार्थिक और शास्त्रीय पर्यायार्थिक। अध्यात्म द्रव्यार्थिकके दस भेद हैं और अध्यात्म पर्यायार्थिकके छह भेद हैं। शास्त्रीय द्रव्यार्थिकके भेद नैगम, संग्रह और व्यवहार नय हैं तथा शास्त्रीय पर्यायार्थिकके भेद शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय हैं। ये सब भेद वे ही हैं जो देवसेनके नयचक्र तथा आलापपद्धतिमें कहे हैं। उक्त अन्तरको देखते हुए गुरुजीने उनका समीकरण इस रूपमें किया है।

किन्तु आलापपद्धति[1] मे शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चयको द्रव्यार्थिक नयका भेद कहा है।

संक्षेपसे आध्यात्मिक[2] नय छै है—उनमेंसे निश्चयनयके दो भेद हैं—शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय। तथा व्यवहारनयके चार भेद हैं—अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय और उपचरितसद्भूतव्यवहारनय। अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय और उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय।

---

१. 'शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ।'

२. इति नयचक्रमूलभूतं संक्षेपेण नयषट्कं ज्ञातव्यम्।
—द्र० सं० टी० गा० ३। 'नयचक्रमूलभूतं नयषट्कं प्रवचनपटिष्ठैः।'—अन० धर्मा० १।१०७।

आचार्य अमृतचन्द्रजीने 'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः' स्वाश्रित निश्चयनय है और पराश्रित व्यवहारनय है ऐसा लक्षण कहा है। आलापपद्धतिमें दोनों नयोंकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

'अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयते इति निश्चयः। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।'

जिसके द्वारा अभेद और अनुपचार रूपसे वस्तुका निश्चय किया जाता है उसे निश्चयनय कहते हैं। और जिसके द्वारा भेद और उपचार रूपसे वस्तुका व्यवहार किया जाता है उसे व्यवहारनय कहते हैं। यह हम ऊपर लिख आये हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार अमृतचन्द्राचार्यने निश्चय और व्यवहारके सिवाय उनके किसी भी भेदका कोई संकेत तक नहीं किया। उनके मतसे निश्चयनय ही शुद्धनय है और व्यवहारनय ही अशुद्ध नय है। जो शुद्धका ग्राहक है वह शुद्धनय है और जो अशुद्धका प्रतिपादक है वह अशुद्धनय है। शुद्धता स्वाश्रित है इसीसे निश्चयनयको स्वाश्रित कहा है और अशुद्धता पराश्रित है अतः व्यवहारनयको पराश्रित कहा है। अभेद और अनुपचार ये शुद्धताके मूल हैं और भेद तथा उपचार ये अशुद्धताके मूल हैं। इसीसे आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं ऐसा भेदकथन भी व्यवहारनयका विषय है क्योंकि अखण्ड द्रव्यमें भेदका प्रतिपादक है। ज्ञानादि गुण आत्माके ही हैं, रागादिककी तरह पराश्रित नहीं हैं फिर भी गुण-गुणीमें भेद करना व्यवहारनयका विषय है ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार अमृतचन्द्रका कथन है।

समयसार गा० ७ की व्याख्यामें अमृतचन्द्रजी लिखते हैं—'इस ज्ञायक आत्माके बन्धप्रत्ययसे अशुद्धता है यह बात तो दूर ही रहे, उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही नहीं हैं क्योंकि अनन्तधर्मवाली एक वस्तुसे अनजान शिष्यको उसका ज्ञान करानेवाले कुछ धर्मोंका कथन करनेके लिये आचार्य धर्म और धर्मीमें स्वभावसे अभेद होने पर भी कथन द्वारा भेद उत्पन्न करके ऐसा उपदेश देते हैं कि व्यवहारमात्रसे ही आत्मामें ज्ञान, चारित्र

और दर्शन हैं। परन्तु परमार्थसे तो एक द्रव्य अनन्त पर्यायोंको पिये हुए होनेसे एक है। उस अभेदरूप एक स्वभावका अनुभव करनेवालोंके लिये न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है, केवल एक शुद्ध ज्ञायक है।'

यह निश्चयनय या शुद्धनय तथा व्यवहारनयकी दृष्टि है।

समयसार गाथा ५६ की टीकामें अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

'व्यवहारनय पर्यायाश्रित है और पुद्गलद्रव्यके संयोगवश जीवकी बन्धपर्याय अनादिकालसे प्रसिद्ध है अतः वह औपाधिक भावोंका अवलम्बन लेकर दूसरेके भावको दूसरेका कहता है किन्तु निश्चयनय द्रव्याश्रित है अतः वह केवल जीवके स्वाभाविक भावका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है और समस्त परभावोंको दूसरोंके होनेका निषेध करता है।'

पूर्वके कथनमें गुण-गुणीमें भेद करनेको व्यवहारनय कहा है और यहाँ इसमें परके भावोंको दूसरोंके कहनेको व्यवहार कहा है।

आगे गाथा २७ में कहा है—व्यवहारनय जीव और शरीरको एक कहता है, निश्चयनयसे जीव और शरीर कभी भी एक नहीं हो सकते।

गाथा ५६ में कहा है—वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव (वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यवस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान) व्यवहारनयसे जीवके होते हैं। निश्चयनयसे इनमेंसे कोई भी जीवके नहीं हैं। ये सब जीवके क्यों नहीं हैं, इसकी उपपत्ति आगेकी गाथाकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने इस प्रकार दी है—

'जैसे जलसे मिले हुए दूधका जलके साथ यद्यपि परस्पर अवगाहरूप सम्बन्ध है फिर भी अग्नि और उष्ण गुणकी तरह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, इसलिये निश्चयसे जल दूधका नहीं है। उसी तरह वर्ण आदि पुद्गल द्रव्यके परिणामोंसे मिले हुए आत्माका भी पुद्गल द्रव्यके साथ यद्यपि

परस्पर अवगाहरूप सम्बन्ध है फिर भी अग्नि और उष्णगुणकी तरह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, इसलिये निश्चयसे वर्णादि पुद्गलपरिणाम जीवके नहीं हैं।' इस कथनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जिनका परस्परमें तादात्म्य सम्बन्ध है निश्चय दृष्टिसे वही उसका है। तादात्म्यके सिवाय जिनका परस्परमें किसी भी प्रकारका संयोग सम्बन्ध है उन्हें व्यवहारनयसे ही एक दूसरेका कहा जा सकता है। किन्तु आत्माका अपने ज्ञान, चारित्र आदि गुणोंके साथ तो तादात्म्य सम्बन्ध है फिर भी उनके कथनको व्यवहारनयका विषय कहा है। आचार्य जयसेनने अपनी टीकामें यहाँ व्यवहारनयसे सद्भूतव्यवहार-नय लिया है। उक्त निश्चय और व्यवहारमें अवान्तर तारतम्य ज्ञापित करनेके लिये ही उत्तर कालमें निश्चयनय और व्यवहारनयके भेद किये गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द और तदनुयायी अमृतचन्द्राचार्यकी दृष्टिमें तो शुद्धनिश्चयनय ही वस्तुतः निश्चयनय है शेष सब व्यवहारनयमे ही गर्भित हैं।

समयसार गाथा ६८ में मोहनीयकर्मके उदयसे होने वाले गुणस्थानों-को 'जे णिच्चमचेदणा उत्ता'—नित्य अचेतन कहा है। अमृतचन्द्रजीने भी उसीकी पुष्टि करते हुए लिखा है—रागादि भाव जीव नहीं हैं। और द्रव्य-संग्रह टीका (गाथा ३) में अशुद्धनिश्चयनयसे रागादिको जीव कहा है। इस विसंगतिका समाधान आचार्य जयसेनने अपनी टीकामें इस प्रकार किया है—

'ते णिच्चमचेदणा उत्ता'—यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाऽभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यानं निश्चयव्यव-हारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम्।'

'यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयसे चेतन हैं तथापि शुद्धनिश्चयसे सदा अचेतन हैं। अशुद्धनिश्चयनय तो वास्तवमें यद्यपि 'द्रव्यकर्मकी अपेक्षा आभ्यन्तर

रागादि चेतन हैं' ऐसा मानकर निश्चयसंज्ञाको प्राप्त करता है, तथापि शुद्ध निश्चयकी अपेक्षासे अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है। यह व्याख्यान निश्चय और व्यवहारनयके विचारके समय सर्वत्र जानना चाहिये।'

इतनी स्थिति स्पष्ट करनेके पश्चात् दोनों नयोंके अवान्तर भेदोंका स्वरूप लिखा जाता है।

१. आलापपद्धतिमें निरुपाधिक गुण और गुणीमें अभेदको विषय करनेवाला शुद्धनिश्चयनय है। जैसे केवलज्ञानादि जीव हैं। और सोपाधिक गुण और गुणीमें अभेदको विषय करनेवाला अशुद्ध निश्चयनय है। जैसे मति-ज्ञानादि जीव हैं।

२. द्रव्यसंग्रहटीकाके अनुसार—सब जीव एक शुद्ध-बुद्ध-स्वभाववाले हैं, यह शुद्ध निश्चयनयका लक्षण है और रागादि ही जीव हैं यह अशुद्ध निश्चयनयका लक्षण है।

३. पं० आशाधरजीने द्रव्यसंग्रहटीकाकारके ही शब्दोंको श्लोकबद्ध कर दिया है—

सर्वेऽपि शुद्धबुद्धैकस्वभावाश्चेतना इति।
शुद्धोऽशुद्धश्च रागाद्या एवात्मेति निश्चयः॥

—अन, ध०, १।१०३।

४. व्यवहारनयके दो भेद हैं—सद्भूत और असद्भूत। तथा इनमेंसे प्रत्येकके दो भेद हैं—उपचरित और अनुपचरित।

जो भेद और उपचार रूपसे वस्तुका व्यवहार करता है उसे आलाप-पद्धतिमें व्यवहारनय कहा है। गुण और गुणीमें संज्ञा आदिके भेदसे भेद-व्यवहार करनेवाला सद्भूत व्यवहारनय है और अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र आरोप करनेवाला असद्भूत व्यवहारनय है। सद्भूत व्यवहार नयका विषय एक वस्तु है और असद्भूत व्यवहार नयका विषय भिन्न वस्तु है। निरुपाधि गुण और गुणीमें भेदको विषय करनेवाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय

है। जैसे जीवके केवलज्ञानादि गुण हैं। सोपाधि गुण और गुणीमें भेदको विषय करनेवाला उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है। जैसे जीवके मतिज्ञानादि गुण हैं। इसी तरह संश्लेष सहित वस्तुके सम्बन्धको विषय करनेवाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे जीवका शरीर। और संश्लेष रहित वस्तुके सम्बन्धको विषय करनेवाला उपचारित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे देवदत्तका धन।

५. द्रव्यसंग्रह (गा० ३) की टीकामें तथा अनगारधर्मामृतमें भी इन नयोंका यही स्वरूप बतलाया है। यह हम ऊपर लिख आये हैं कि अखण्ड एक वस्तुका ग्राही निश्चयनय है शेष सब व्यवहारनय है, यह आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्राचार्यका मत है। आलापपद्धतिकारके मतसे निरुपाधि गुण-गुणीमें अभेदको विषय करनेवाला शुद्ध निश्चयनय है जैसे केवलज्ञानादि जीव हैं। कुन्दकुन्दकी दृष्टिसे तो यह भी व्यवहारनय में आता है क्योंकि दृष्टान्त अभेदपरक होते हुए भी उसमें भेदकी गन्ध है। जीव शुद्ध ज्ञायक है इस प्रकार जिसमें गुणगुणी भेदकी गन्ध भी न हो वही वस्तुतः शुद्ध निश्चयका विषय है। शेष सब भेद, भेदपरक होते हुए भी जिनमें भेदव्यवहार है उनके साथ वस्तुके सम्बन्धको दृष्टिमें रखकर ही, किये गये हैं। जैसे जीवमें केवलज्ञानादि गुण भी है, मतिज्ञानादि गुण भी हैं किन्तु केवलज्ञान जीवका निरुपाधि गुण है, मतिज्ञान क्षायोपशमिक होनेसे सोपाधि गुण है। निरुपाधि गुण और गुणीमें तथा सोपाधि गुण और गुणी में अभेद तथा भेद व्यवहारको निश्चय नय तथा सद्भूतव्यवहारनयके अन्तर्गत लिया है।

गुण और गुणीमें तो तादात्म्य सम्बन्ध होता है। उस सम्बन्धके सिवाय अन्य सम्बन्धोंको विषय करनेवाला असद्भूत व्यवहारनय है। इसकी व्युत्पत्ति आलापपद्धतिमें इस प्रकार की है।

'अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः'। असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचारितासद्भूतव्यवहारः।'

अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यमें आरोप करना असद्भूत व्यवहार है असद्भूत व्यवहार स्वयं उपचार है। जो उपचारसे भी उपचार करता है वह उपचरितासद्भूतव्यवहार है।

जैसे व्यवहारनयसे कर्मबन्धके कारण जीवको मूर्तिक कहा गया है यहाँ पौद्गलिक मूर्त कर्मोंके मूर्तत्व धर्मका आरोप जीवमें किया गया है। द्रव्यसंग्रह टीका (गा० ७) में इसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय कहा है। इसी तरह गाथा ८ की टीकामें जीवको अनुपचरितअसद्भूत-व्यवहारनयसे द्रव्यकर्म और नोकर्मोंका, तथा उपचरित असद्भूतव्यव-हारनयसे घट, पट आदिका कर्ता कहा है।

इसी तरह गाथा ६ की टीकामें कहा है जीवका लक्षण केवलज्ञान केवलदर्शन है, यह अनुपचरितसद्भूत व्यवहारनयका कथन है। मति-श्रुतादिज्ञान जीवके लक्षण हैं, यह उपचरितसद्भूतव्यवहारनयका कथन है और कुमतिकुश्रुतज्ञान जीवके लक्षण है, यह उपचरितासद्भूतव्यवहार नयका कथन है।

निश्चयनयकी भूतार्थता और व्यवहारनयकी अभूतार्थता—

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा ११ में व्यवहारनयको अभूतार्थ तथा शुद्धनयको भूतार्थ कहा है और भूतार्थका आश्रय लेनेवाले जीवको सम्यग्दृष्टि कहा है। यथा—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

इसकी व्याख्यामें आचार्य अमृतचन्द्रने लिखा है—'व्यवहारनय अभूतार्थ है क्योंकि वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थका कथन करता है। इसको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'कीचड़से कलुषित हुए गंदले जलको कीचड़ और जलका भेद न कर सकनेवाले अधिकांश मनुष्य तो मलिन ही अनुभव करते हैं। किन्तु कुछ मनुष्य अपने हाथसे डाली गई

निर्मलीके प्रभावसे जल और मैलके भेदको जानकर उस जलको निर्मल ही अनुभव करते हैं। उसी तरह प्रबल कर्मरूपी मैलके द्वारा जिसका स्वाभाविक ज्ञायक भाव तिरोभूत हो गया है ऐसे आत्माका अनुभव करनेवाला व्यवहारसे विमोहितमति अविवेकी पुरुष आत्माको नानापर्यायरूप अनुभव करता है। किन्तु भूतार्थदर्शी मनुष्य शुद्धनयके द्वारा आत्मा और कर्मका भेद जानकर ज्ञायकस्वभाव आत्माका ही अनुभव करता है। यहाँ शुद्धनय निर्मलीके समान है। अतः जो शुद्धनयका आश्रय करता है वही सम्यक् दृष्टा होनेके कारण सम्यक्दृष्टि है। किन्तु जो व्यवहारनयका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। अतः कर्मसे भिन्न आत्माका अनुभव करनेवालोंके लिये व्यवहारनयका अनुसरण करना योग्य नहीं है।'

इस व्याख्यासे अध्यात्ममें निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ माननेका तथा एकको उपादेय और दूसरेको हेय कहनेका हेतु स्पष्ट हो जाता है।

निश्चयनय आत्माके शुद्ध रूपका अनुभव कराता है इसलिये उसे शुद्धनय भी कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार (गा० १४) में शुद्धनयका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—जो आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त जानता है उसे शुद्धनय जानो। यथा—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठमणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥ १४ ॥

इसकी टीकामें अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं—शिष्य पूछता है कि अबद्ध, अस्पृष्ट आदि रूप आत्माकी अनुभूति कैसे होती है? उसका समाधान यह है कि बद्ध स्पृष्ट आदि भाव अभूतार्थ हैं अतः उनसे रहित आत्माकी अनुभूति हो सकती है, इसी बातको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—जैसे जलमें डूबे हुए कमलिनीके पत्तोंकी जलमें डूबी हुई अवस्थाको देखते हुए उनका जलसे स्पृष्ट होना भूतार्थ है। किन्तु जब हम कमलिनीके पत्तोंके स्वभावको

लक्ष्यमें रखकर देखते हैं तो उनका जलसे स्पृष्टपना अभूतार्थ है, क्योंकि कमलिनीका पत्र जलसे सदा अस्पृष्ट ही रहता है। इसी तरह आत्माकी अनादि पुद्‌गल कर्मोंसे बद्ध और स्पृष्ट अवस्थाका जब अनुभव करते हैं तो आत्माका बद्धपना, स्पृष्टपना भूतार्थ है। किन्तु जब आत्माके स्वभावका अनुभवन करते हैं तो बद्ध-स्पृष्टपना अभूतार्थ है।'

इसका आशय यह है कि आत्माकी दो अवस्थाएँ हैं—एक स्वाभाविक और एक वैभाविक। स्वाभाविक अवस्था यथार्थ होनेसे भूतार्थ है और वैभाविक अवस्था औपाधिक होनेसे अभूतार्थ है। भूतार्थग्राही निश्चयनय है और अभूतार्थग्राही व्यवहारनय है। यद्यपि आत्मा अनादिकालसे कर्म-पुद्‌गलोंसे बद्ध और स्पृष्ट होनेसे बद्ध और स्पृष्ट प्रतीत होता है, कर्मके निमित्तसे होनेवाली नर, नारक आदि पर्यायोंमें भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है, अविभागी प्रतिच्छेदोंमें हानि-वृद्धि होनेके कारण अनियतरूप प्रतीत होता है, दर्शन, ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट प्रतीत होता है तथा कर्मके निमित्तसे होनेवाले राग-द्वेष-मोहरूप परिणामोंसे संयुक्त प्रतीत होता है। इस तरह व्यवहारनयसे आत्मा बद्ध, स्पृष्ट, अन्यरूप, अनियत, विशिष्ट और संयुक्त प्रतीत होता है। इस तरह व्यवहारनयसे ये सब प्रतीतियाँ भूतार्थ हैं। किन्तु व्यवहारदृष्टिसे ज्ञायकस्वभावरूप आत्माको नहीं जाना जा सकता और उसके बिना आत्माको नहीं जाना जा सकता। अतः आत्माके असाधारण ज्ञायकस्वभावको लक्ष्यमें रखने पर उक्त सब भाव अभूतार्थ हैं।

सारांश यह है कि परद्रव्यके सम्बन्धसे अशुद्धता होती है। उसके होनेसे मूल द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, केवल परद्रव्यके संयोगसे अवस्था मलिन हो जाती है। द्रव्यदृष्टिसे तो उस अवस्थामें भी द्रव्य वही है किन्तु पर्यायदृष्टिसे देखनेपर मलिन ही दिखाई देता है। इसी तरह आत्माका स्वभाव ज्ञायक मात्र है किन्तु पुद्‌गलकर्मके निमित्तसे उसकी अवस्था रागादिरूप मलिन हो रही है। पर्यायदृष्टिसे देखने पर वह मलिन

ही दिखाई देती है किन्तु द्रव्यदृष्टिसे देखने पर ज्ञायकरूप ही है वह जड़रूप नहीं हो गया है। अतः द्रव्यदृष्टिमें अशुद्धता गौण है व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचरित है, और द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है।

तथ्य यह है कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों वास्तविक हैं किन्तु अशुद्धता परद्रव्यके संयोगसे होने से आगन्तुक है। जब शुद्धता स्वभावभूत है। इस अन्तरके कारण ही एक अभूतार्थ है और दूसरी भूतार्थ। जो नय अभूतार्थ अशुद्ध दशाका अनुभव कराता है वह हेय है क्योंकि अशुद्ध नयका विषय संसार है। और शुद्ध नयका विषय मोक्ष है।

समयसारमें आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि॥ १८६ ॥

शुद्ध आत्माको जानने वाला जीव शुद्ध आत्माको ही पाता है और अशुद्ध आत्माको जानने वाला अशुद्ध आत्माको पाता है।

अशुद्ध नय अर्थात् व्यवहारनयको असत्यार्थ या अभूतार्थ कहनेसे यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि अशुद्धता सर्वथा अवास्तविक है। किन्तु उसे आगन्तुक जानकर हेय समझना ही उचित है।

प्रवचनसार २।९७ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रजीने लिखा है—

'उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धद्योतको व्यवहारनयः॥'

अर्थात् शुद्ध द्रव्यका निरूपक निश्चयनय और अशुद्ध द्रव्यका निरूपक व्यवहार नय दोनों ही हैं क्योंकि द्रव्यकी शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपसे प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ साधकतम होनेसे निश्चयनयका ग्रहण किया

है क्योंकि साध्य है आत्माकी शुद्धता। अतः द्रव्यकी शुद्धताका प्रकाशक होनेसे निश्चयनय ही साधकतम है, अशुद्ध द्रव्यका प्रकाशक व्यवहारनय साधकतम नहीं है।

अतः चूँकि अशुद्ध दशा भी वास्तविक है इसलिये उसका दर्शक व्यवहार नय भी वास्तविक है। किन्तु शुद्ध दशा जैसी वास्तविक है अशुद्ध दशा वैसी वास्तविक नही है क्योंकि शुद्ध दशा तो वस्तुकी स्वाभाविक अवस्था है अतएव स्थायी और सत्यार्थ है। किन्तु अशुद्धदशा परद्रव्यके संयोगसे होती है अतः आगन्तुक होनेसे अस्थायी और असत्यार्थ है। इसीलिये जो उसका नहीं है उसे उसका बतलाने वाला व्यवहारनय भी असत्यार्थ है। किन्तु व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। समयसार गाथा ४६ की टीकामें अमृतचन्द्रजीने लिखा है—

'व्यवहारो हि-व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद् भवत्येव बन्धस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः॥'

अर्थात्—जैसे म्लेच्छोंको वस्तुस्वरूप समझानेके लिये म्लेच्छभाषाका प्रयोग उचित है वैसे ही परमार्थका प्रतिपादक होनेसे अपरमार्थ भी व्यवहारनय व्यवहारी पुरुषोंके लिये तीर्थकी प्रवृत्तिके लिये दर्शाना उचित ही है। यदि व्यवहारको न कहा जाये तो निश्चयनयसे तो जीव शरीरसे भिन्न है ऐसा मानकर त्रस और स्थावर जीवोंका भस्मकी तरह निशंक घात करनेसे हिंसा नहीं होगी और हिंसा न होनेसे बन्धका भी अभाव हो जायेगा। तथा राग, द्वेष और मोहसे जीव परमार्थसे भिन्न है ऐसा माननेसे मोक्षके उपायोंको ग्रहण न करनेपर मोक्षका भी अभाव हो जायेगा।'

अतः व्यवहारनयकी भी उपयोगिता है किन्तु है वह हेय ही।

समयसारमें उसकी उपयोगिता बतलाते हुए कहा है—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

जैसे म्लेच्छ पुरुषको म्लेच्छ भाषाके बिना अपनी बात नहीं समझाई जा सकती, वैसे ही व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश नहीं दिया जा सकता ।

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रजीने लिखा है—

'जैसे किसी म्लेच्छको 'स्वस्ति' कहकर आशीर्वाद देनेपर वह कुछ भी नहीं समझता, केवल आँखें खोलकर ताकता है कि इसने क्या कहा है । किन्तु जब वही बात उसकी म्लेच्छभाषामें कही जाती है तो वह आनन्दसे गद्गद् होकर तत्काल समझ जाता है । वैसे ही लोग भी 'आत्मा, कहनेसे कुछ भी नहीं समझते, क्योंकि उन्हें आत्माके स्वरूपका कोई ज्ञान नहीं है । किन्तु जब व्यवहारका अवलम्बन लेकर कहा जाता है कि आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है तो वह तत्काल समझ जाता है । अतः यह जगत म्लेच्छतुल्य है और व्यवहारनय म्लेच्छभाषाके तुल्य है, अतः परमार्थका कथन करने वाला होनेसे व्यवहारका प्रयोग करना चाहिये, किन्तु ब्राह्मणको म्लेच्छवत् आचरण नहीं करना चाहिये । अतः व्यवहारनयका अनुसरण करना उचित नहीं है ।'

व्यवहारनयके विना परमार्थका उपदेश अशक्य है, यह ऊपर कहा है । किन्तु साथ ही व्यवहारनयको परमार्थका प्रतिपादक भी नहीं कहा है—

श्रुतभवनदीपकनयचक्रमें लिखा है—'भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः ।........योऽसौ भेदोपचारलक्षणोऽर्थः सोऽपरमार्थः । अभेदानुपचारस्यार्थस्य परमार्थत्वात् । अतएव व्यवहारोऽपरमार्थप्रतिपादकत्वात् अभूतार्थः ।'

अर्थात्—भेद और उपचारसे वस्तुका व्यवहार करनेवाला व्यवहारनय है । किन्तु यह जो भेद और उपचाररूप अर्थ है वह अपरमार्थ है । अभेद

और अनुपचाररूप अर्थ परमार्थ है। इसीलिये अपरमार्थका प्रतिपादक होनेसे व्यवहारनय अभूतार्थ है।

इस तरह अपरमार्थका प्रतिपादक होनेसे यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि उसके विना परमार्थका उपदेश नहीं हो सकता। जैसे अज्ञानी जीव 'आत्मा' शब्दको सुनकर कुछ भी नहीं समझता। तब ज्ञानी पुरुष व्यवहारनयके द्वारा आत्मा द्रव्यमें भेद करके कहता है जो यह देखनेवाला है वह आत्मा है तब वह आत्माके स्वरूपको समझकर उसकी ओर लगता है। यह तो अखण्ड वस्तुमें भेद करनेवाले सद्‌भूत व्यवहारनयकी उपयोगिता है।

संसार दशामें चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्यायसे संयुक्त है अतः उसे व्यवहारनयसे देव, मनुष्य आदि नामोंसे कहा जाता है। परन्तु निश्चयदृष्टिसे तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है। उसे समझानेके लिये आचार्य गति, जाति, शरीर आदिका अवलम्बन लेकर जीवका कथन करते हैं। इस तरह आचार्य अज्ञानी जीवोंको ज्ञान करानेके लिये असद्‌भूत व्यवहारनयका अवलम्बन लेकर उपदेश करते हैं। उसके द्वारा शरीर आदिके साथ सम्बन्धरूप संसार दशाको जानकर संसारके कारण आस्रव-बन्धसे बचने और मुक्तिके कारण संवर-निर्जरामें प्रवृत्त होता है। अतः अपरमार्थके भी प्रतिपादक व्यवहारनयके विना परमार्थकी प्रतीति नहीं होती।

यहाँ यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि जिस प्रकार निश्चयनयका विषय वस्तुस्वरूप है उस प्रकार व्यवहारनयका विषय वस्तुरूप नहीं है। वस्तुस्वरूप अभेदरूप और अनुपचरित है वही निश्चयनयका विषय है। व्यवहारनयका विषय भेद और उपचार है किन्तु वस्तुरूप वैसा नहीं है।

उक्त नयचक्रमें कहा है—

'यद्यपि निश्चयनयेनाखण्डितैकवस्तुसद्भावस्तथाप्युपनयोपजनितानेकव्यवहारकवलितं वस्तु शुद्धम्। यथा राहुबिम्बप्रच्छादितं तमोरिबिम्बम्।

अर्थात्—यद्यपि निश्चयनयसे अखण्डित एक वस्तुका सद्भाव है तथापि

वस्तुके उस शुद्ध स्वरूपको उपनयोंसे उत्पन्न अनेक व्यवहारोंने ग्रस लिया है। जैसे राहुका बिम्ब सूर्यके बिम्बको ग्रस लेता है।

ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब व्यवहारनय वस्तुके शुद्ध स्वरूपका आच्छादक है तो उसकी आवश्यकता क्या है? असत्कल्पनाकी निवृत्तिके लिये और सम्यक्रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये व्यवहारकी आवश्यकता है। अनादि कर्मबन्धनके कारण जीवके साथ कितनी उपाधियां लगी हुई हैं व्यवहारनयके बिना उन उपाधियोंको सम्यक् रीतिसे नहीं जाना जा सकता है। और उनके जाने बिना जीव त्रस है, स्थावर है, एकेन्द्रिय या दोइन्द्रिय है इत्यादि असत्कल्पनाओंकी निवृत्ति नही हो सकती। इसी तरह रत्नत्रयसे आत्माको सर्वथा भिन्न माननेपर निश्चयका अभाव हो जायेगा, सर्वथा अभिन्न माननेपर भेदव्यवहार नहीं बनेगा। कथंचिद् भेद माननेसे ही सिद्धि होती है।

यद्यपि आत्मा स्वभावसे नयपक्षातीत है किन्तु वर्तमान स्थितिमें नयोंका आश्रय लिये बिना नयपक्षातीत नहीं हो सकता। अतः दोनों नयोंकी आवश्यकता है। किन्तु जबतक आत्मा निश्चय और व्यवहारसे तत्त्वका अनुभव करता है तब तक उसकी अनुभूति परोक्ष ही है क्योंकि नय परोक्ष श्रुतज्ञानके भेद है। प्रत्यक्षानुभूति ही नयपक्षातीत है।

'ऐसी स्थितिमें दोनों ही नय समानरूपसे पूज्य क्यों नहीं हैं' इसका समाधान उक्त नयचक्रमें बड़ी सुन्दर रीतिसे किया है। लिखा है—

'तर्ह्येवं द्वावपि सामान्येन पूज्यतां गतौ? न ह्येवं, व्यवहारस्य पूज्यतरत्वान्निश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात्। ननु प्रमाणलक्षणो योऽसौ व्यवहारः स व्यवहारनिश्चयमनुभयं (मुभयं) च गृह्णन्नप्यधिकविषयत्वात् कथं न पूज्यतमः? नैवं, नयपक्षातीतमात्मानं कर्तुमशक्यत्वात्। तद्यथा—निश्चयं गृह्णन्नपि अन्ययोगव्यवच्छेदनं (न) करोतीत्यन्ययोगव्यवच्छेदाभावे व्यवहारलक्षणभावक्रियां निरोद्धुमशक्तः। अत एव ज्ञानचैतन्ये स्थापयितुमशक्य एवासावात्मानमिति तथा प्रोच्यते। निश्चयनयस्त्वेकत्वे

समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानन्दं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रान्तं करोतितमिति पूज्यतमः। अत एव निश्चय-नयः परमार्थप्रतिपादकत्वाद् भूतार्थोऽत्रैव विश्रान्तान्तदृष्टिर्भवत्यात्मा।'

शंका—तब तो इस प्रकार दोनों ही नय पूज्य हुए ?

समाधान—ऐसा नहीं है, यद्यपि व्यवहारनय भी पूज्य है किन्तु निश्चयनय पूज्यतम—उससे अधिक पूज्य है।

शंका—प्रमाणरूप जो व्यवहार है वह तो व्यवहार और निश्चय दोनोंको ही ग्रहण करता है अतः उसका विषय दोनों ही नयोंसे अधिक है—निश्चय और व्यवहार तो अपने ही विषयको जानते हैं किन्तु प्रमाण दोनोंके विषयको जानता है—अतः वह दोनोंसे अधिक पूज्य क्यों नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रमाण आत्माको नयपक्षातीत करनेमें असमर्थ है। उसका खुलासा इस प्रकार है—यद्यपि प्रमाण निश्चयको ग्रहण करता है तथापि व्यवहारनयके विषयका निषेध नहीं करता और उसके न करनेसे व्यवहाररूप भावक्रियाको रोकनेमें वह असमर्थ है। इसीलिये प्रमाण आत्माको ज्ञानचेतनामें स्थापित करनेमें अशक्त है। किन्तु निश्चयनय एकत्वको प्राप्त कराके ज्ञानचेतनामें स्थापित करके परमानन्दको उत्पन्न करके आत्माको वीतरागी बनाता है और स्वयं ही लुप्त होकर आत्माको नयपक्षातीत कर देता है। अतः निश्चयनय प्रमाणसे भी पूज्य है। इसीलिये परमार्थका प्रतिपादक होनेसे निश्चयनय भूतार्थ है उसी पर अन्तर्दृष्टि रखनेसे आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है।'

इसीसे अध्यात्ममें निश्चयनयका प्राधान्य है। जो निश्चयको नहीं जानता उसे उपदेशका भी अपात्र कहा है—

व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।

—पुरुषार्थसि०।

किन्तु निश्चयका भी हठाग्रही नहीं होना चाहिये। कहा है—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

—पुरुषार्थसि०

जो श्रोता व्यवहार और निश्चयको यथार्थरूपसे जानकर मध्यस्थ रहता है—निश्चय या व्यवहारनयके पक्षपातसे रहित होता है वही उपदेशका पूरा लाभ उठाता है ।

निक्षेप

'णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेओ ।'

—धवला० षट्खण्डा० पु० १, पृ० १० ।

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें स्थापित करता है उसे निक्षेप कहते हैं । निक्षेपका प्रयोजन बतलाते हुए धवलाके प्रारम्भमें (षट्खं०, पु० १, पृ० ३०-३१) लिखा है—

श्रोता तीन प्रकारके होते हैं—एक अव्युत्पन्न—जो वस्तुस्वरूपको नहीं जानता, दूसरा सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थोंको जाननेवाला, तीसरा विवक्षित पदार्थोंको एक देशसे जानने वाला । प्रथम श्रोता वस्तुस्वरूपसे अनजान होनेके कारण विवक्षित पदके अर्थको नहीं जानता । दूसरा श्रोता इस सन्देहमें रहता है कि यहाँ पर इस पदका कौन-सा अर्थ अधिकृत है ? अथवा प्रकृत अर्थको छोड़कर दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेता है और इस तरह विपरीत समझ बैठता है । दूसरे प्रकारके श्रोताके समान तीसरे प्रकारका श्रोता भी या तो प्रकृत अर्थमें सन्देह करता है या विपरीत समझ लेता है ।

यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तुस्वरूपको जानना चाहता है तो उस अव्युत्पन्न श्रोताको प्रकृत विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत अर्थका निराकरण करनेके लिये भावनिक्षेपका कथन करना चाहिये । यह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे वस्तुस्वरूपको जानना चाहता है तो प्रकृत अर्थका कथन करनेके लिये सभी निक्षेपोंको कहना चाहिये, क्योंकि व्यतिरेक धर्मके निर्णयके बिना विधिका निर्णय

नहीं हो सकता। इसी तरह दूसरे और तीसरे प्रकारके श्रोता भी यदि संशयमें हों तो संशयको दूर करनेके लिये सब निक्षेपोंको कहना चाहिये। और यदि उन्होंने विपरीत समझा हो तो भी प्रकृत अर्थके निर्णयके लिये सब निक्षेपोंको कहना चाहिये।

यदि निक्षेपोंके बिना सिद्धान्तका कथन किया जाता है तो वक्ता और श्रोता दोनोंके ही कुमार्गमें जानेकी सम्भावना है। इसलिये निक्षेपोंका कथन आवश्यक है। कहा भी है—

'अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥'

अप्रकृत अर्थके निवारण करनेके लिये, प्रकृत अर्थका कथन करनेके लिये, संशयको दूर करनेके लिये और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिये निक्षेपोंका कथन करना चाहिये।

शंका—निक्षेपोंके बिना प्रमाण और नयसे तत्त्वार्थका निश्चय होता ही है तब निक्षेपोंकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—अप्रकृतका निराकरण और प्रकृत अर्थके निरूपणके लिये निक्षेप आवश्यक हैं। यदि प्रमाण और नयके द्वारा अप्रकृत अर्थको जान लिया जाये तो वह व्यवहारमें उपयोगी नहीं हो सकता। मुख्य अर्थ और गौण अर्थका विभाग होनेसे ही व्यवहारकी सिद्धि होती है और मुख्य गौणका भेद नामादि निक्षेपके बिना सम्भव नहीं है, अतः निक्षेपके बिना तत्त्वार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। (लघीयस्त्र० पृ० ९९)

भट्टाकलंकदेवने अपने सिद्धिविनिश्चयके अन्तमें निक्षेपसिद्धि प्रकरण-को प्रारंभ करते हुए लिखा है—

निक्षेपोऽनन्तकल्पश्चतुरवरविधः प्रस्तुतव्याकृत्यार्थः,
तत्त्वार्थज्ञानहेतुर्द्वयनयविषयः संशयच्छेदकारी।

शब्दार्थप्रत्ययाङ्गं विरचयति यतस्तद्यथाशक्तिभेदम्,
वाच्यानां वाचकेषु श्रुतविषयविकल्पोपलब्धेस्ततः सः ॥ १ ॥

किसी धर्मी (वस्तु) में नयके द्वारा जाने गये धर्मोंकी योजना करनेको निक्षेप कहते हैं। निक्षेपके अनन्त भेद हैं किन्तु उसके संक्षेपसे चार भेद हैं। अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका निरूपण करना उसका उद्देश्य या प्रयोजन है। वह निक्षेप द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयके द्वारा जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें कारण है। निक्षेपसे केवल तत्त्वार्थका ज्ञान ही नहीं होता, संशय, विपर्यय आदि भी दूर हो जाते हैं। यह जिज्ञासा हो सकती है कि निक्षेप तत्त्वार्थके ज्ञानमें हेतु कैसे है ? अतः कहते हैं कि शब्दसे अर्थका ज्ञान होनेमें निक्षेप निमित्त है क्योंकि वह शब्दोंमें यथाशक्ति उनके वाच्योंके भेदकी रचना करता है। इसलिये ज्ञाताके श्रुतविषयक विकल्पोंकी उपलब्धिके उपयोगका नाम निक्षेप है।

वह निक्षेप चार प्रकारका है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न करके लोकव्यवहारके लिये वक्ताकी इच्छासे जो नामकरण किया जाता है उसे नामनिक्षेप कहते हैं। नामवाली वस्तुकी किसी अन्य वस्तुमे स्थापना करनेको स्थापनानिक्षेप कहते हैं। स्थापनाके दो भेद हैं—सद्भाव या तदाकार स्थापना और असद्भाव या अतदाकार स्थापना। जिसकी स्थापना की जाती है उसके समान प्रतिमा सद्भाव स्थापना है क्योंकि जो मुख्य वस्तुको देखना चाहता है उसे उसकी प्रतिमाको देखकर उसमें उसकी बुद्धि होती है क्योंकि दोनोंमें कथंचित् समानता पाई जाती है। जैसे जिनेन्द्रदेवकी स्थापना उनकी प्रतिकृतिरूप प्रतिमामें की जाती है तो दर्शककी उस प्रतिमामें 'यह जिनेन्द्र है' ऐसी बुद्धि होती है। तथा मुख्य वस्तुके आकारसे शून्य वस्तुमात्रको असद्भाव स्थापना कहते हैं। जैसे शतरंजके मोहरोंमें दूसरेके कहनेसे ही यह राजा है, यह मंत्री है, इत्यादि बोध होता है उनका आकार राजा आदिके अनुरूप नहीं होता।

नाम और स्थापना निक्षेपमें अन्तर यह है कि स्थापनामें तो मनुष्य आदरभाव और अनुग्रहकी इच्छा करता है किन्तु नाममें नहीं करता। जैसे जिनप्रतिमामें तो मनुष्य आदरभाव करता है उसकी पूजा करके फलकी कामना करता है किन्तु जिननामके व्यक्तिमें वैसा नहीं करता।

जो वस्तु भाविपर्यायके प्रति अभिमुख है उसे द्रव्यनिक्षेप कहते हैं।[1] उसके दो भेद हैं—आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य। जीवविषयक शास्त्रके ज्ञाता किन्तु उसमें अनुपयुक्त जीवको आगमद्रव्यजीव कहते हैं क्योंकि वह उस शास्त्रके ज्ञानमें भविष्यमें उपयोग लगायेगा। नोआगमके तीन भेद है—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। उस ज्ञाताके भूत, भावि और वर्तमान शरीरको ज्ञायकशरीर कहते है। भावि पर्यायको भावि नोआगमद्रव्य कहते है। जैसे भविष्यमें राजा होनेवालेको राजा कहना। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद है—कर्म और नोकर्म। कर्मके ज्ञानावरण आदि अनेक भेद है। शरीर आदिके पोषक आहारादिरूप पुद्गलद्रव्य नोकर्म है।

आगे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (१-५-६४)के आधारसे चर्चा की जाती है—

शंका—भावि पर्यायके प्रति अभिमुखको द्रव्य कहते हैं, यह द्रव्यका लक्षण अयुक्त है, तत्त्वार्थसूत्रमे गुणपर्यायवान्को द्रव्य कहा है।

समाधान—शंकाकार सूत्रके अर्थसे अनजान है। सूत्रकारने पर्यायवान्को द्रव्य कहा है। इससे त्रिकालवर्ती अनन्त क्रमभावी पर्यायोंके आधारको द्रव्य कहा गया है। वह द्रव्य जब भाविपर्यायके प्रति अभिमुख होता है तब वर्तमान पर्यायसे युक्त और पूर्व पर्यायका त्यागी निश्चित होता है। उसके बिना वह भाविपर्यायके अभिमुख नहीं हो सकता। यहाँ निक्षेपके प्रकरणमें भावि पर्यायके अभिमुख अथवा अतीत पर्यायवाले अविनाशी द्रव्यको द्रव्य

कहा है। सूत्रकारने परमतका निराकरण करनेके लिये प्रमाणकी अपेक्षासे गुणपर्यायवान्‌को द्रव्य कहा है।

अब प्रश्न है कि त्रिकालानुयायी द्रव्य कैसे सिद्ध होता है तो उत्तर है कि अन्वयप्रत्ययसे सिद्ध होता है। 'यह वही है' इस एकत्वप्रत्यभिज्ञानको अन्वयप्रत्यय कहते हैं। वह अन्वयप्रत्यय जीव आदि शास्त्रोंके ज्ञाता किन्तु उसमें अनुपयुक्त जीवादि आगमद्रव्यनिक्षेपमें भी है। 'जो मैं पहले स्वयं जीवादिप्राभृतके ज्ञानमें उपयुक्त था वही मैं इस समय उसमें अनुपयुक्त हूं और आगे पुनः उसमें उपयुक्त, होऊँगा, इस प्रकारके अन्वयप्रत्ययसे द्रव्य त्रिकालानुयायी सिद्ध होता है।

इसी तरह जीव आदि नोआगमद्रव्यकी भी सिद्धि होती है। 'जो मैं पहले मनुष्य जीव था वही मैं अब देव हूं, पुनः मनुष्य होऊँगा', इसप्रकारका अन्वयप्रत्यय होता है।

शंका—जीवादि नोआगमद्रव्य तो असंभव है क्योंकि जीवादिपना तो सर्वदा रहता है, अजीव तो जीव होता नहीं है, अतः भाविपर्यायके प्रति अभिमुख होना जीवद्रव्यमें घटित नहीं हो सकता ?

समाधान—आपका कथन सत्य है, इसीलिये जीवादिद्रव्यनिक्षेपका उदाहरण जीवादिविशेषकी अपेक्षासे दिया जाता है। जैसा ऊपरके उदाहरणसे स्पष्ट है।

शंका—आगमद्रव्य तो अन्वयप्रत्ययसे सिद्ध हो जाता है किन्तु त्रिकालगोचर ज्ञायक शरीर और कर्म-नोकर्म तद्व्यतिरिक्तमें अन्वयप्रत्यय कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—उनमें भी उक्त प्रकारका अन्वयप्रत्यय पाया जाता है। जो मेरा शरीर जाननेका आरम्भ करते हुए था, वही अब तत्त्वज्ञानके समाप्त होनेपर है, इसप्रकारका अन्वयप्रत्यय वर्तमान ज्ञायकशरीरमें होता है। तत्त्वज्ञानमें उपयुक्त मेरे जो शरीर था, वही अब तत्त्वज्ञानमें अनुपयुक्त

अवस्थामें भी है, इसप्रकारका अन्वयप्रत्यय अतीत ज्ञायकशरीरमें होता है। जो शरीर वर्तमानमें तत्त्वज्ञानमें अनुपयुक्त अवस्थामें मेरा है वही शरीर अब मैं तत्त्वज्ञानमें उपयुक्त हूँगा तो रहेगा, यह अनागत ज्ञायक-शरीरमें अन्वयप्रत्यय है।

शंका—तब तो ज्ञायकशरीर भाविनोआगमद्रव्यसे अभिन्न ही हुआ?

समाधान—नहीं, ज्ञायक विशिष्ट भाविनोआगमद्रव्य ज्ञायकशरीरसे भिन्न है। तथा आगमद्रव्यसे तो ज्ञायकशरीर भिन्न है ही क्योंकि आगम-के ज्ञानमें उपयोगरहित आत्माको आगमद्रव्य कहते हैं। और ज्ञायक-शरीर तो जड़ है।

शंका—तो अन्वयज्ञानसे जाने गये कर्म-नोकर्म ज्ञायकशरीरसे अभिन्न हुए?

समाधान—नहीं, क्योंकि कार्मणशरीर और तैजसशरीर अथवा शरीरपनेको प्राप्त आहार आदि पुद्‌गलद्रव्य ज्ञायकशरीर नहीं हैं, केवल औदारिक, वैक्रियिक और आहारकशरीर ही ज्ञायकशरीर हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो विग्रहगतिमें भी उपयुक्त ज्ञातापनेका प्रसंग आयेगा, क्योंकि वहाँ तैजस और कार्मणशरीर रहते हैं।

शंका—तो कर्म और नोकर्मआगमद्रव्य भाविनोआगमद्रव्यसे अभिन्न हुए?

समाधान—नहीं, क्योंकि जीवादि शास्त्रके ज्ञाता पुरुषके कर्म-नोकर्म-पनेको प्राप्त कर्म-नोकर्मोंको ही तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य कहा है। उससे अन्यको भाविनोआगमद्रव्य कहा है।

भावनिक्षेप

वस्तुकी वर्तमान पर्यायको भावनिक्षेप कहते हैं। वस्तुके पर्यायस्व-भावको भाव कहते हैं। ऐसा कहनेसे भाव अवस्तुस्वभाव नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है तथा वर्तमान कहनेसे त्रिकालव्यापि द्रव्य भाव नहीं है, यह सिद्ध होता है।

शंका—जब अतीत और अनागत पर्याय भावरूप नहीं हैं तो वर्तमान पर्याय भी भावरूप नहीं हो सकती; क्योंकि वर्तमान पर्याय भी अपनी पूर्व पर्यायकी अपेक्षा अनागत है और उत्तर पर्यायकी अपेक्षा अतीत है। ऐसी अवस्थामें भावनिक्षेपका लक्षण या तो अव्याप्तिदोषसे दूषित है या असंभवदोषसे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अतीत और अनागत पर्याय भी स्वकालकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे भावरूप है। जो पर्याय पूर्वोत्तरकी पर्यायोंमें अनुगमन नहीं करती उसे वर्तमान कहा है। वही भावनिक्षेपरूप है अतः उक्त दोष संभव नहीं है।

द्रव्यकी तरह भावनिक्षेपके भी दो भेद हैं—आगमभावनिक्षेप और और नोआगमभावनिक्षेप। जीवादिविषयक शास्त्रका ज्ञाता जब उसमे उपयुक्त होता है तो उसे आगमभाव कहते है तथा जीवादि पर्यायसे युक्त जीवको नोआगमभाव कहते है।

शंका—आगम जीवादिभावनिक्षेपरूप कैसे है ?

समाधान—ज्ञानरूप जीवादि वस्तु वर्तमान पर्यायरूप है, जैसे अर्थरूप जीवादि है शब्दरूप जीवादि है वैसे ही ज्ञानरूप जीवादि भी प्रसिद्ध है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु तीन रूप है। उनमेंसे जीवादिविषयक उपयोगरूप जीवादिज्ञानसे विशिष्ट पुरुष ही आगमभाव है। उससे भिन्न जीवादि पर्यायसे विशिष्ट वस्तुको नो आगमभाव कहते हैं।

इस तरह चार निक्षेपोंका स्वरूप है। इनकी योजना सर्वत्र होती है क्योंकि उनके बिना वाच्यार्थका सम्यक् बोध नही होता। जैसे 'जिन' में चारों निक्षेपोंकी योजना करते हुए कहा है—

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य ताह पडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था ॥

'जिन' नामका धारी व्यक्ति नाम जिन है। जिनदेवकी प्रतिमायें

स्थापना जिन हैं। जो जीव भविष्यमें जिन होनेवाला है वह द्रव्यजिन है और समवसरणमें विराजमान साक्षात् जिन भावजिन है :

इसी तरह सर्वत्र निक्षेपयोजना करके जहाँ जिसका प्रस्ताव हो वहाँ उसे लेना चाहिये।

इनमेंसे नाम, स्थापना और द्रव्य द्रव्यार्थिक नयके निक्षेप हैं और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय है।

आचार्य सिद्धसेनने सन्मतिसूत्रमें ऐसा ही कहा है—

णामं ठवणा दवियं ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो।
भावो दु पज्जवट्ठियस्स परूवणा एस परमत्थो ॥ ६ ॥

नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिक नयके निक्षेप हैं और भाव पर्यायार्थिक नयका निक्षेप है, यही परमार्थ सत्य है।

